सोल एजेण्ट्स :

पुरोहित एण्ड कम्पनी,

मुलतान बाजार,

हैदराबाद-दक्षिण

प्रथम संस्करण

१९५६

मूल्य रु. १-१४-०

दो शब्द

'गद्य-रत्न-संग्रह' विश्वविद्यालयों की कक्षाओं की आवश्यकतओं को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया गया है। इस संग्रह में अधिकतर प्रतिनिधि निबन्ध लेखकों के लेख ही संकलित हैं। गद्य साहित्य के भिन्न प्रकारों से विद्यार्थियों को परिचित कराने के लिए कहानी, नाटक, संस्मरण, जीवन-चरित्र आदि का समावेश भी कर लिया गया हैं। वर्तमान युग का गद्य साहित्य विभिन्न भाषाओं के लब्ध प्रतिष्ठ गद्य लेखकों की कृतियों के अनुवादों से भी पर्याप्त मात्रा में समृद्ध हुआ हैं अतएव इस तरह के साहित्य को इस संग्रह में प्रतिनिधित्व देने के लिए उर्दू तथा बंगला से अनूदित अंश भी सम्मिलित कर लिए गए हैं। आजकल हिन्दी साहित्य के चिन्तन-क्षेत्र में आलोचकों और विचारकों का ध्यान दक्षिण में विकसित हिन्दी की 'दक्खनी' शैली की ओर आकर्षित हुआ है। इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य भी हो चुका है। अतः दक्खिनी साहित्य से भारतीय विद्यार्थियों को परिचित कराने के लिए तद्विषयक एक ऐतिहासिक प्रबन्ध को भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया है।

विषयों के क्रम के सम्बन्ध में हम यह सूचित कर देना आवश्यक समझते हैं कि हमारे ध्यान में विद्यार्थियों की मनोवैज्ञानिक रुचि ही प्रमुख रही है। इसीलिए लोगों को ऐतिहासिक क्रम से स्थान नहीं दिया गया है। परन्तु विद्यार्थियों को लेखों के ऐतिहासिक क्रम का ज्ञान करा देने के लिए हमने इस पुस्तक के अन्त में लेखकों का परिचय देते हुए उनके समय का ठीक ठीक निर्देश कर दिया है।

अन्त में हम उन सभी लेखकों के प्रति साभार कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिनकी रचनाएँ इस संग्रह में सम्मिलित की गई हैं।

अध्ययन-क्रम

१–पैसे की शिकायत

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

प्रयत्न और भाग्य में से कौन प्रधान और प्रबल है, यह निश्चित नहीं हो सका, कुछ लोग तो प्रयत्न या उद्यम को सब कुछ मानते हैं किन्तु कुछ भाग्य–विधान को ही मुख्य कहते हैं। कुछ का तो कहना है कि उद्योग अथवा प्रबल पुरुषार्थ के आगे भाग्य कुछ भी नहीं; कर्म के ही द्वारा भाग्य का–यदि वह कुछ है–विधान बनता है, और कुछ का विचार है कि भाग्य के सामने कर्म की कुछ भी नहीं चलती, जैसा कुछ भाग्य–विधान होता है, वैसा ही मनुष्य को करना और विचारना पड़ता है। जो कुछ भी सत्य हो, संसारमें भाग्य का कौतुक अवश्य ही देखा जाता है। देखा जाता है कि एक व्यक्ति बड़ा ही उद्यमी और परिश्रमी है किन्तु दुर्भाग्य के कारण उसे उसका यथेष्ट फल नहीं प्राप्त होता।

सुनते हैं, संसार में क्षति–पूर्ति का एक नियम है। उस नियम का अर्थ यही है कि जिसके पास एक वस्तु का अभाव है, उसके पास प्रायः दूसरी वस्तु की अधिकता रहती है। आफिस में भी इसके ज्वलन्त प्रमाण विद्यमान हैं। मेरा वेतन जितना ही न्यून है, परिश्रम उतना ही अधिक और शिकायत भी विशेष है।

संसार का यह नियम किसी-किसी के लिए कितना ही आनन्द जनक क्यों न हो परन्तु मेरे लिये तो वैसा सौख्य-प्रद नहीं जान पड़ता। केवल लाचारी से सब कुछ सहता हूँ, किन्तु जिस दिन मेरे ऊपर के दरजे की एक जगह रिक्त हुई और उसी दिन बाहर से एक कच्ची आयु के बालक को बुला उस पर नियुक्त करके मेरी वृद्धि रोक दी गई, उस

दिन मेरे मनोदुःख की सीमा न रही। चुपचाप बस सीधे घर ही चला गया, उस दिन जल-पान तक न किया। बच्चे को सरदी हुई है इस कारण स्त्री को खूब फटकारा, वह रोने लगी। मैं तनिक सवेरे ही चार-पाई पर जा लेटा। पडे ही पडे सोचने लगा हाय रे पैसे! तेरे लिये कितना अपमान सह रहा हूँ!

स्त्री तो रुष्ट होकर मेरे समीप न आई, किन्तु निद्रा देवी कब मानने वाली थी वह चुपचाप आ गई। एकाएक मैंने देखा कि मैं एक पैसा हूँ। कुछ आश्चर्य्य न मालूम हुआ। कब, किस पुरानी टकसाल से निकला, यह भी याद नहीं। सिर्फ इतना ही ज्ञात था कि ब्रह्मा जी के पैर से जैसे शूद्र की उत्पत्ति हुई उसी तरह टकसाल के अत्यन्त छोटे विभाग से मेरा जन्म हुआ है।

उस दिन अखबार में एक विज्ञापन छपा था कि चवन्नियों और दुअन्नियों का एक बड़ा अधिवेशन होगा। कोई काम तो था ही नहीं, कुतूहल-वश लुढ़कते-लुढ़कते मैं भी उस सभा में पहुँचा और दीवार से सट कर एक कोने में बैठ गया।

सुकुमारी तन्वंगी सहधर्मिणी दुअन्नियों को बडे यत्न से वाम भाग में कर चमकीली चवन्नियों ने, झुंड के झुंड में आकर सभागृह को चारों ओर से समावृत कर दिया। उनमें से कोई तो रहती हैं कोट के पाकेट में, कोई चमडे की थैली में और कोई टीन की पिटारी में। भाग्य के दोष से कोई-कोई हम लोगों की पडोसी भी बन हमारे गांव में बटुए के भीतर भी बन्द रह कर कालक्षेप करती हैं।

उस दिन का आलोच्य विषय यही था, "हम पैसे से बिलकुल अलग होकर रहना चाहती हैं, क्योंकि वह बड़ा ही तुच्छ है।" दुअन्नियाँ बडे उच्च स्वर से बोल उठीं—"उसका रूप भद्दा है, रंग भी ताँबे का है और बास भी अच्छी नहीं।" मेरे पास एक दुअन्नी बैठी थी, उसने कुछ तिरछे भाव से बैठ कर नाक-मुँह सिकोडी। उसकी पार्श्ववर्तिनी एक चवन्नी ने मेरीं ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देखा। मैं तो मारे

लज्जा के सिकुड़ कर पाई ही सा हो गया। मैंने अपने मन में कहा—मेरे ही आठ और सोलह को खाकर तुम्हारी यह चमक दमक निखरी-बिखरी है। इसके लिए क्या कुछ भी कृतज्ञता नहीं? मिट्टी के तले तो हमारा और तुम्हारा दोनों ही का स्थान समान ही था!

उस दिन प्रस्ताव हुआ-उज्ज्वल मुद्रा और मलिन मुद्रा के लिए अलग-अलग टकसाल बने। यद्यपि एक ही महाराज की मूर्ति, एक ही राजा का चेहरा; दोनों के ऊपर अंकित है तथापि इस एक चिन्ह से हम किसी तरह उनकी बराबरी नहीं स्वीकार करना चाहतीं, हम उनसे सर्वथा विलग ही होकर किसी बटुए, थैली या बक्स में रहेंगीं। यहाँ तक कि चवन्नी दुअन्नी को भुना कर पैसा और पैसों को भुना कर चवन्नी-दुअन्नी ली जाँय, इस अपमान-जनक कानून को भी हम बदलवाना चाहती हैं। समता के गौरव को हम अस्वीकार नहीं करतीं, किन्तु उसकी भी एक सीमा होती है। जैसे गिन्नी और मुहर में, वैसे ही चवन्नी-दुअन्नी में भी सादृश्य है दोनों ही एक साम्य-सीमा के अन्तर्गत हैं, किन्तु इससे क्या चवन्नी दुअन्नी के साथ नीच पैसा भी रहेगा। सभी चिल्ला कर बोल उठीं—"कभी नहीं कभी नहीं।" दुअन्नी का तीव्र कण्ठ सब से ऊँचा सुना गया।

जिस खान से मेरी प्रथम उत्पत्ति हुई थी उसी खान में प्रवेश करने की इच्छा से मैंने वसुन्धरा से फटने का अनुरोध किया किन्तु वसुन्धरा ने यह अनुरोध न माना। मैं दीवाल में चिपक कर लाल हो ज्यों का त्यों ही बैठा रह गया।

इसी समय चमक-दमक से परिपूर्ण एक नई अठन्नी ने चवन्नी-दुअन्नी की सभा में आकर प्रवेश किया। उसे देख कर सभी हड़बड़ा उठीं। वह बडी तेजी से वक्तृता देने लगी; झन-झन शब्द से चारों ओर करतल-ध्वनि हुई।

किन्तु मैंने कान देकर सुना, वक्तृता चाहे जैसी हो पर आवाज़ रुपहले ढंग की बिलकुल न थी, इससे मन में बड़ा संदेह हुआ, जब सभा

भंग हुई तब मैं धीरे-धीरे लुढ़कता हुआ बड़े साहस से उसके शरीर पर जा गिरा। टन सें आवाज़ हुई। वह आवाज़ बिलकुल देशी थी और गन्ध भी हमारी सजाति के सदृश थी। वह अत्यन्त क्रोध करके बोली-"तुम कहाँ के असभ्य हो?" मैंने कहा-"बाबू, जहाँ के आप हैं वहीं का मैं भी हूँ।" बात खुल गई। छोकरा हमारा ही एक निम्न श्रेणी का कुटुम्बी-पैसा-था, कहीं से पारा लगा कर आ गया था।

उसके रूप-रंग को देख कर मैं खिल खिला कर हँस पड़ा। हँसी के शब्द से जाग उठा, अब मैंने देखा तो स्त्री समीप ही पड़ीं पड़ी रो रही है। इधर-उधर की दो-एक बातें कह कर मैंने उसे तुरन्त प्रसन्न कर लिया। स्वप्न की बातें उसे आदि से अन्त तक सुना डालीं। छद्मवेशी छिपा नहीं रहता, तो भी मैं चाहता हूँ कि कल से मैं भी पारा लगा कर आफ़िस जाऊँ।

स्त्री--पारा लगाने की अपेक्षा पारा खाकर मर जाना भला है।

२-आप

श्रीयुत प्रतापनारायण मिश्र

भला बतलाइए तो आप क्या हैं? आप कहते होंगे, वाह आप तो आप ही हैं, यह कहाँ की आपदा आई? यह भी कोई पूछने का ढंग है? पूछा होता कि आप कौन हैं तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं और आप ब्राह्मण-सम्पादक हैं, अथवा आप पण्डित जी हैं, आप राजा जी हैं, आप सेठ जी हैं, आप लाला जी हैं, आप बाबू साहब हैं, आप मियाँ साहब, आप निरे साहब हैं। आप क्या हैं? यह तो कोई प्रश्न की रीति ही नहीं है वाचक महाशय! यह हम भी जानते हैं कि आप आप ही हैं, और हम भी वही हैं, तथा इन साहबों की भी लम्बी धोती, चमकीली पोशाक, खुँटिहई अंगरखी (मिरज़ई), सीधी माँग, विलायती चाल, लंबी दाढी और साहबानी हवस ही कहे देती है कि :

"किस रोग की हैं आप दवा कुछ न पूछिये।"

अच्छा साहब, फिर हमने पूछा तो क्यों पूछा? इसी लिये कि देखें आप (आप) का ज्ञान रखते हैं या नहीं, जिस आप को आप अपने लिये तथा औरों के प्रति दिन-रात मुंह पर धेरे रहते हैं, वह आप क्या है? इसके उत्तर में आप कहिएगा कि एक सर्वनाम है. जैसे मैं, तू, हम, तुम, यह, वह आदि हैं वैसे ही आप भी है, पर इतना कह देने से न हमीं संतुष्ट होंगे न आप ही के शब्दशास्त्र-ज्ञान का परिचय होगा। इससे अच्छे प्रकार कहिये कि जैसे 'मैं' का शब्द अपनी नम्रता दिखलाने के लिये बिल्ली की बोली का अनुकरण है, 'तू' का शब्द

मध्यम पुरुष की तुच्छता व प्रीति सूचित करने के अर्थ में कुत्ते के संबोधन की नकल है; हम तुम संस्कृत के अहं, त्वं का अपभ्रंश हैं, वह निकट और दूर की वस्तु वा व्यक्ति के द्योतनार्थ स्वाभाविक उच्चारण हैं वैसे 'आप' क्या है, किस भाषा के किस शब्द का शुद्ध वा अशुद्ध रूप है और आदर ही में बहुधा क्यों प्रयुक्त होता है?

हुजूर की मुलाज़मत से अक्ल ने इस्तीफा दे दिया हो तो दूसरी बात है, नहीं तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि 'आप' लफ्ज़ फारसी या अरबीस्त, अथवा 'ओह, इटिज एन इँगलिश वर्ड'। जब यह नहीं है तो खाह, हमखाह यह हिंदी शब्द है, पर कुछ सिर-पैर मूड़-गोड़ भी है कि यों ही? आप छूटते ही सोच सकते हैं कि संस्कृत में आप कहते हैं जल को, और शास्त्रों में लिखा है कि विधाता ने सृष्टि के आदि में उसी को बनाया था, यथा-'अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्', तथा हिंदी में पानी और फारसी में आब का अर्थ शोभा अथच प्रतिष्ठा आदि हुआ करता है, जैसे "पानी उतरिगा तरवारिन को उइ करछुलि के मोल बिकायँ" तथा "पानी उतरिगा रजपूती का उइ फिर बिमऔ ते (वेश्या से भी) बहि जायँ"; और फारसी में 'आबरू खाक में मिला बैठे' इत्यादि।

इस प्रकार पानी कीं ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का विचार करके लोग पुरुषों को भी उसी कें नाम से आप पुकारने लगे होंगे। यह आपका समझना निर्ग्थक तो न होगा, बड़प्पन और आदर का अर्थ अवश्य निकल आएगा, पर खींच-खाँचकर, और साथ ही यह शंका भी कोई कर बैठे तो अयोग्य न होगी कि पानी के जल, वारि, अम्बु नीर, तोय इत्यादि और भी तो कई नाम हैं उनका प्रयोग क्यों नहीं करते, 'आप' ही को सुरखाब का पर कहाँ लगा है? अथवा पानी की सृष्टि सबके आदि में होने के कारण वृद्ध ही लोगों को उसके नाम से पुकारिए तो युक्तियुक्त हो सकता है पर आप तो अवस्था में छोटों को भी आप आप कहा करते हैं, यह आपकी कौन सी विज्ञता है? या हम यों भी

कह सकते हैं कि पानी में गुण चाहे जितने हों, पर गति उसकी नीच ही होती है। तो क्या आप हमको मुंह से आप आप करके अधोगामी बनाया चाहते हैं? हमें निश्चय है कि आप पानीदार होंगे तो इस बात के उठते ही पानी पानी हो जायँगे, और फिर कभी यह शब्द मुंह पर भी न लाएँगे।

सहृदय सुहृद्गण आपस में आप आप की बोली बोलते भी नहीं। हैं। एक हमारे उर्दूदाँ मुलाक़ाती मौखिक मित्र बनने की अभिलाषा से आते-जाते थे, पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का सा देखा तो हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगों के सामने की बात न्यारी है, अकेले में अथवा अपनायतवालों के आगे आप आप न किया करो, इसमें भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती है। पर वह इस बात को न माने, हमने दो चार बार समझाया, पर वह 'आप' थे, क्यों मानने लगे? इस पर हमें झुंझलाहट छूटी तो एक दिन उनके आते ही और 'आप' का शद्ब मुंह पर लाते ही हमने कह दिया कि आपकी ऐसी तैसी! यह क्या बात है कि तुम मित्र बनकर हमारा कहना नहीं मानते? प्यार के साथ तू कहने में जितना मज़ा आता है उतना बनावट से आप साँप कहो तो कभी सपने में नहीं आने का। इस उपदेश को वह मान गए। सच तो यह है कि प्रेम-शास्त्र में, कोई बंधन न होने पर भी, इस शब्द का प्रयोग बहुत ही कम, वरंच नहीं के बराबर होता है।

हिंदी की कविता में हमने दो ही कवित्त इससे युक्त पाए हैं। एक तो 'आप को न चाहै ताके बाप को न चाहिए', पर यह न तो किसी प्रतिष्ठित ग्रंथ का है, और न इसका आशय स्नेह-संबद्ध है। किसी जले-भुने कवि ने कह मारा हो तो यह कोई नहीं कह सकता कि कविता में भी 'आप' की पूछ है। दूसरी घनानंद जी का यह सवैया है-"आप हो तौ मन हेरि हस्यो तिरछे करि नैनन नेह के चाव में" इत्यादि। पर यह भी निराशापूर्ण उपालंभ है। इससे हमार इस कथन

का कोई खंडन नहीं कर सकता कि प्रेम-समाज में 'आप' का आदर नहीं है, तू ही प्यारा है।

संस्कृत और फ़ारसी के कवि भी त्वं और तू के आगे भवान् और शुमा (तू का बहुवचन) का बहुत आदर नही करते। पर इससे आपको क्या मतलब? आप अपनी हिंदी के 'आप' का पता लगाइए, और न लगे तो हम बतला देंगे। संस्कृत में एक आप्त शब्द है, जो सर्वथा माननीय ही अर्थ में आता है, यहाँ तक कि न्यायशास्त्र में प्रमाण-चतुष्टय (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) के अंतर्गत शाब्द-प्रमाण का लक्षण ही यह लिखा है कि 'आप्तोपदेशः शब्दः' अर्थात् आप्त पुरुष का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही प्रामाणिक होता है, वा यों समझ लो कि आप्त जन प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाण से सर्वथा प्रमाणित ही विषय को शब्द-बद्ध करते हैं। इससे जान पड़ता है कि जो सब प्रकार की विद्या, बुद्धि, सत्यभाषणादि सद्गुणों से संयुक्त हो वह आप्त है, और देवनागरी भाषा में आप्त शब्द सबके उच्चारण में सहजतया नहीं आ सकता, इससे उसे सरल करके आप बना लिया गया है, और मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष के अत्यंत आदर का द्योतन करने में काम आता है। 'तुम बहुत अच्छे मनुष्य हो' और 'यह बड़े सज्जन हैं'--ऐसा कहने से सच्चे मित्र बनावट के शत्रु चाहे जैसे 'पुलक प्रफुल्लित पूरित गाता' हो जायँ, पर व्यवहारकुशल लोकाचारी पुरुष तभी अपना उचित सम्मान समझेंगे जब कहा जाय कि 'आपका क्या कहना है, आप तो बस सभी बातों में एक ही हैं' इत्यादि।

अब तो आप समझ गए होंगे कि आप कहाँ के हैं, कौन हैं, कैसे हैं। यदि इतनी बड़ी बात के बतंगड़ से भी न समझे हों तो इस छोटे से कथन में हम क्या समझा सकेंगे कि 'आप' संस्कृत के आप्त शब्द का हिंदी रूपांतर है; और माननीय अर्थ के सूचनार्थ उन लोगों (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है जो सामने विद्यमान हों, चाहे बातें करते हों, चाहे बात करनेवालों के द्वारा पछे बताए जा

रहे हों, अथवा दो वा अधिक जनों में जिनकी चर्चा हो रही हो कभी कभी उत्तम पुरुष के द्वारा भी इसका प्रयोग होता है, वहाँ भी शब्द और अर्थ वही रहता है; पर विशेषता यह रहती है कि एक तो सब कोई अपने मन से आपको (अपने तईं) आप ही (आप्त ही) समझता है, और विचार कर देखिए तो आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता या तद्रूपता कहीं लेने भी नहीं जाने पड़ती, पर बाह्य व्यवहार में अपने को आप कहने से यदि अहंकार की गंध समझिए तो यों समझ लीजिए कि जो काम अपने हाथ से किया जाता है, और जो बात अपनी समझ स्वीकार कर लेती है उसमें पूर्ण निश्चय अवश्य ही हो जाता है, और उसी के विदित करने को हम और आप तथा यह एवं वे कहते हैं कि 'हम आप कर लेंगे' अर्थात् कोई संदेह नहीं है कि हमसे यह कार्य संपादित हो जायगा, 'हम आप जानते हैं,' अर्थात् दूसरे के बतलाने की आवश्यकता नहीं है, इत्यादि।

महाराष्ट्रीय भाषा के आपाजी भी उन्नीस बिस्वा आप्त और आर्य के मिलने से इस रूप में हो गए हैं, तथा कोई माने या न माने, पर हम मना सकने का साहस रखते हैं कि अरबों के अब्ब (पिता बोलने में अब्बा) और यूरोपीय भाषाओं के पापा (पिता), पोप (धर्म-पिता) आदि भी इसी आप से निकले हैं। हाँ, इसके समझने-समझाने में भी जी ऊबे तो अंगरेजी के एबाट (Abbot महन्त) तो इसके हुई हैं, क्योंकि उस बोली में ह्रस्व और दीर्घ दोनों आकार का स्थानापन्न A है, और 'पकार' को 'बकार' से बदल लेना कई भाषाओं की चाल है। रही टी (T) सो वह तो 'तकार' हुई है। फिर क्या न मान लीजिएगा कि एबाट साहब हमारे (आप) वरंच शुद्ध आप्त से बने हैं।

हमारे प्रांत में बहुत से उच्च वंश के बालक भी अपने पिता को अप्पा कहते हैं, उसे कोई कोई लोग समझते है कि मुसलमानों के सहवास का फल है, पर यह उनकी समझ ठीक नहीं है। मुसलमान भाइयों के लड़के कहते हैं अब्बा, और हिंदू संतान के पक्ष में 'बकार' का उच्चारण तनिक भी कठिन नहीं होता, वह अँगरेजों का तकार

और फ़ारसवालों का टकार नहीं है कि मुंह ही से न निकले, और सदा मोती का मोठी अर्थात् स्थूलांगा स्त्री और खस की टट्टी का तत्ती अर्थात् गरम ही हो जाय, फिर अब्बा को अप्पा कहना किस नियम से होगा! हाँ, आप्त से आप और अप्पा तथा आपा की सृष्टि हुई है, उसी को अरबवालों ने अब्बा में रूपांतरित कर लिया होगा, क्योंकि उनकी वर्णमाला में 'पकार' (पे) नहीं होता, सो बिस्वा बप्पा, बाप, बापू बब्बा, बाबा बाबू आदि भी इसी से निकले हैं, क्योंकि जैसे एशिया की कई बोलियों में 'पकार' को 'बकार' व 'फकार' से बदल लेते हैं, जैसे पादशाह-बादशाह और पारसी-फारसी आदि, वैसे ही कई भाषाओं में शब्द के आदि में 'बकार' भी मिला देते हैं, जैसे वक्ते शब-बवक्ते शब तथा तंग आमद-बजंगआमद इत्यादि, और शब्द के आदि के ह्रस्व अकार का लोप भी हो जाता है जैसे अमावस का मावस (सतसई आदि ग्रंथों में देखी) ह्रस्व अकारांत शब्दों में अकार के बदले ह्रस्व वा दीर्घ उकार भी हो जाता है, जैसे एक-एकु स्वाद-स्वादु आदि, अथच ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व अ, इ, उ, आदि की वृद्धि वा लोप भी हुआ ही करता है, फिर हम क्यों न कहें कि जिन शब्दों में अकार और पकार का संपर्क हो, एवं अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निकलती हो वह प्राय: समस्त संसार के शब्द हमारे आप्त महाशय या आप ही के उलट फेर से बने हैं।

अब तो आप समझ गए न, कि आप क्या हैं? अब भी न समझा तो हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन हैं! हाँ, आप ही को उचित होगा कि दमडी छदाम की समझ किसी पंसारी के यहाँ से मोल ले आइए, फिर आप हो समझने लगिएगा कि आप 'को हैं? कहाँ के हैं? कौन के हैं? ' यदि यह भी न हो सके, और लेख पढ़ के आपे से बाहर हो जाइए तो हमारा क्या अपराध है? हम केवल जी में कह लेंगे 'शाव! आप न समझो तो आपांको के पडी छै' एं! अब भी नहीं समझे? वाह रे आप!

३—आशीर्वाद

श्री बाल मुकुन्द गुप्त

तीसरे पहर का समय था। दिन जल्दी-जल्दी ढल रहा था और सामने से सन्ध्या फुर्ती के साथ पाँव बढ़ाये चली आती थी। शर्माजी महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिल-बट्टे से भंग रगडी जा रही थी। मिर्च-मसाला साफ़ हो रहा था, बादाम-इलायची के छिलके उतारे जाते थे, नागपुरी नारंगियाँ छील-छोलकर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबीयत भुरभुरा उठी। इधर भंग, उधर घटा. बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा चीलें अदृश्य हुईं। अँधेरा छाया, बूंदें गिरने लगीं, साथ ही तड़-तड़ धड़-धड़ होने लगी, देखो ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई, बम भोला कहकर शर्माजी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बडे लाट मिण्टो ने बंग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में ये दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशम्भु शर्मा के बरामदे की छत पर बूंदें गिरती थीं, और लार्ड मिण्टो के सिर या छाते पर।

भंग छानकर महाराजजी ने ·खटिया पर लम्बी तानी। कुछ काल सुषुप्ति के आनन्द में निमग्न रहे। अचानक धड़-धड़, तड़-तड़ के शब्द ने कानों में प्रवेश किया। आँखें मलते उठे। वायु के झोंकों से किवाड़ पुर्जे-पुर्जे हुआ चाहते थे। बरामदे की टीनों पर तड़ातड़ के साथ ठनाका भी होता था। एक दरवाजे के किवाड़ खोलकर बाहर की ओर झाँका

तो हवा के झोंकों ने दस-बीस बूंद़ों और दो-चार ओलों से शर्माजी के श्रीमुख का अभिषेक किया। कमरे के अन्दर भी ओलों की एक बौछार पुहुँची। फुर्ती से किवाड़ बन्द किये तथापि एक शीशा चूर हुआ। इतने में ठन-ठन करके दस बजे। शर्माजी फिर चारपाई पर लम्बा· यमान हुए। कान टीन और ओलों के सम्मिलन की टनाटन का मधुर शब्द सुनने लगे, आँखें और हाथ-पाँव सुख में थे, पर विचार के घोडे को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिन्दों की तरह इधर-उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशे में विचारों का तार बँधा कि बडे लाट फुर्ती से अपनी कोठी में घुस गये होंगे और दूसरे अमीर भी अपने-अपने घरों में चले गये होंगे पर वह चील कहाँ गई होंगी ?... (हा, शिवशम्भु को इन पक्षियों की चिन्ता है, पर यह नहीं जानता कि इस अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोपडी भी नहीं रखते। इस समय सहस्रों अट्टालिकाएँ शून्य पडी हैं।

आन की आन में विचार बदला, नशा उड़ा, हृदय पर दुर्बलता आई। भारत ! तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ ? प्यारी भंग ! तेरी कृपा से कभी कुछ काल के लिए चिन्ता दूर हो जाती है। नहीं तो यह अधबूढ़ा भंगड़, क्या सुख का भूखा है। घात्रों से चूर जैसे नींद में पड़कर अपने कष्ट भूल जाता है अथवा स्वस्थ देखता है, तुझे पीकर शिवशम्भु भी वैसे ही कभी अपने कष्टों को भूल जाता है।

चिन्ता-स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनन्त है, जो बात इस समय है वह सदा न रहेगी। इससे एक समय अच्छा भी आ सकता है। जो बात आज आठ-आठ आँसू रुलाती है वही किसी दिन बड़ा आनन्द उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी ही काली रात थी। इससे भी घोर अँधेरी भादों कृष्ण अष्टमी की अर्द्धरात्रि, चारों ओर घोर अन्धकार—वर्षा होती थी. बिजली कौंदती थीं. घन गरजते

थे। यमुना उत्ताल तरंगों में बह रही थी। ऐसे समय में एक दृढ़ पुरुष एक सद्यजात शिशु को गोद में लिये मथुरा के कारागार से निकल रहा था...... वह और कोई नहीं थे, यदुवंशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, माँ-बाप की आँखों का तारा हुआ, यदुकुल-मुकुट हुआ, उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ, पराजय हुई। वही हिन्दुओं का सर्वप्रधान हुआ और शिवशम्भु शर्मा का इष्टदेव। वह कारागार भारत-सन्तान के लिए तीर्थ हुआ। वहाँ की धूलि मस्तक पर चढ़ाने के योग्य हुई।

> "बर ज़मीने कि निशाने कफेपाये तो बुवद।
> सालहा सिजदये साहिब नज़राँ ख्वाह बूद॥" *

तब तो जेल बुरी जगह नहीं है।

---

* जिस भूमि पर तेरा पद-चिन्ह है उस पर दृष्टि वाले सैकड़ों वर्ष तक अपना मस्तक टेकेंगे।

४— कवियों की ऊर्म्मिला-विषयक उदासीनता

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी

कवि स्वभाव ही से उच्छृङ्खल होते हैं। वे जिस तरफ झुक गये, झुक गये। जी में आया तो राई का पर्वत कर दिया; जी में न आया तो हिमालय की तरफ भी आंख उठा कर न देखा। यह उच्छृङ्खलता या उदासीनता सर्वसाधारण कवियों में तो देखी ही जाती है, आदि कवि तक इससे नहीं बचे। क्रौंच पक्षी के जोडे में से एक पक्षी को निपाद द्वारा बध किया गया देख जिस कवि-शिरोमणि का हृदय दुःख से विदीर्ण हो गया, और जिसके मुख से "मानिषाद" इत्यादि सरस्वती सहसा निकल पडी वही परदुःख-कातर मुनि, रामायण निर्माण करते समय, एक नवपरिणीता दुःखिनी वधू को बिलकुल ही भूल गया। विपत्ति विधुरा होने पर उसके साथ अल्पादल्पतरा समवेदना तक उसने प्रकट न की—उसकी खबर तक न ली।

वाल्मीकि रामायण का पाठ किंवा पारायण करने वालों को ऊर्म्मिला के दर्शन सब से पहिले जनकपुर में सीता, माण्डवी और श्रुतिकीर्ति के साथ होते हैं। सीता की बात तो जाने ही दीजिए। उनके और उनके जीविताधार रामचन्द्र के चरित्र-चित्रण ही के लिए रामायण की रचना हुई। माण्डवी और श्रुतिकीर्ति के विपय में कोई विशेषता नहीं, क्योंकि आग से भी अधिक सन्ताप पैदा करने वाला पति-वियोग उनको हुआ ही नहीं। रही बाल-वियोगिनी देवी ऊर्म्मिला, सो उसका चरित्र सर्वथा गेय और आलेख्य होने पर भी, कवि ने उसके साथ अन्याय किया। मुने! इस देवी को इतनी उपेक्षा क्यों? इस सर्वसुखवंचिता के विषय में इतना पक्षपात-कार्पण्य क्यों? क्या इस लिये कि इसका नाम इतना श्रुतिसुखद, इतना मंजुल,

इतना मधुर है और तापसजनों का शरीर सदैव शीतातप सहने के कारण कठोर और कर्कश होता है--पर नहीं, आपका काव्य पढ़ने से तो यही जान पड़ता है कि आप कठोरता-प्रेमी नहीं। भवतु नाम। हम इस उपेक्षा का एक मात्र कारण भगवती ऊर्म्मिला का भाग्यदोष ही समझते हैं। हा हतविधिलसते! परमकारुणिकेन मुनिना वाल्मीकिनापि विस्मृतासि।

हाय वाल्मीकि! जनकपुर में तुम ऊर्म्मिला को सिर्फ एक बार, वैवाहिक-वधू-वेश में, दिखा कर चुप हो बैठे। अयोध्या आने पर सुसराल में उसकी सुधि यदि आपको न आई थी तो न सही पर, क्या लक्ष्मण के वनप्रयाण-समय में भी उसके दुःखाश्रुमोचन करना आपको उचित न जँचा? रामचन्द्र के राज्याभिषेक की जब तैयारियाँ हो रही थीं, जब राजान्तःपुर ही क्यों सारा नगर नन्दन-बन बन रहा था, उस समय नवला ऊर्म्मिला कितनी खुशी मना रही थी, सो क्या आपने नहीं देखा? अपने पति के परमाराध्य राम को राज्य-सिंहासन पर आसीन देख ऊर्म्मिला को कितना आनन्द होता, इसका अनुमान क्या आपने नहीं किया? हाय वही ऊर्म्मिला एक घण्टे बाद, राम-जानकी के साथ, निज पति को १४ वर्ष के लिए बन जाते हुए देख, छिन्नमूल शाखा की तरह राज-मदन की एक एकांत कोठरी में भूमि पर लोटती हुई क्या आपके नयनगोचर नहीं हुई? फिर भी उसके लिए आपकी "वचने दरिद्रता"! ऊर्म्मिला वैदेही की छोटी बहन थी। सो उसे बहन का वियोग सहना पड़ा और प्राणाधार पति का भी वियोग सहना पड़ा! पर इतनी घोर दुःखिनी होने पर भी आपने दया न दिखाई। चलते समय लक्ष्मण को उसे एक बार आँख भर देख भी न लेने दिया! जिस दिन रास और लक्ष्मण, सीतदेवी के साथ, चलने लगे—जिस दिन उन्होंने अमने पुरत्याग से अयोध्या नगरी को अन्धकार में नगरवासियों को दुःखोदधि में और पिता को मृत्यु-सुख में निपतित किया, उस दिन भी आपको ऊर्म्मिला याद न आई। उसकी क्या दशा थी, वह कहीं पडी थी, सो कुछ भी आपने न सोचा; इतनी उपेक्षा!

लक्ष्मण ने अकृत्रिम भ्रातृस्नेह के कारण बडे भाई का साथ दिया। उन्होंने राज-पाट छोड़कर अपना शरीर रामचन्द्र को अर्पण किया। यह बहुत बडी बात की। पर ऊर्म्मिला ने इससे भी बढ़कर आत्मोत्सर्ग किया। उसने अपनी आत्मा की अपेक्षा भी अधिक प्यारा अपना पति राम-जानकी के लिए दे डाला और यह आत्मसुखोत्सर्ग उसने तब किया जब उसे व्याह कर आये हुए कुछ ही समय हुआ था। उसने अपने सांसारिक सुख के सब से अच्छे अंश से हाथ धो डाला। जो सुख विवाहोत्तर उसे मिलता उसकी बराबरीं १४ वर्ष पति वियोग के बाद का सुख कभी नहीं कर सकता। नवोढत्व को प्राप्त होते ही जिस ऊर्म्मिला ने, रामचन्द्र और जानकी के लिए, अपने सुख सर्वस्व पर पानी डाल दिया उसी के लिए अन्तर्दर्शी आदि कवि के शब्द-भण्डार में दरिद्रता !

पति-प्रेम और पति-पूजा की शिक्षा सीतादेवी को जहाँ मिली थी वहीं ऊर्म्मिला को भी मिली थी। सीता देवी की सम्मति :

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।
पिय बिनु तियहिं तरनि ते ताते।

ऊर्म्मिला की क्या यह भावना न थी ? ज़रूर थी। दोनों एक ही घर की थीं। ऊर्म्मिला भी पतिपरायणता-धर्म्म को अच्छी तरह जानती थी। पर उसने लक्ष्मण के साथ वन-गमन की हठ, जान-बूझ कर, नहीं की। यदि वह भी साथ जाने को तैयार होती, तो लक्ष्मण को अपने अग्रज राम के साथ उसे ले जाने में संकोच होता, और ऊर्म्मिला के कारण लक्ष्मण अपने उस आराध्य-युग्म की सेवा भी अच्छी तरह न कर सकते। यही सोच कर ऊर्म्मिला ने सीता का अनुकरण नहीं किया। यह बात उसके चरित्र की बहुत बडी महत्ता की बोधक है। वाल्मीकि को ऐसी उच्चाशय रमणी का विस्मरण होते देख किस कविता-मर्मज्ञ को आन्तरिक वेदना न होगी ?

तुलसीदासजी ने भी ऊर्म्मिला पर अन्याय किया है। आपने इस विषय में आदि कवि का ही अनुकरण किया है। "नाना-पुराणनिगमागम-सम्मत" लेकर जब "रामचरितमानस" की रचना करने की घोषणा की थी, तब यहाँ पर आदि काव्य को ही अपने वचनों का आधार मानने की वैसी कोई ज़रूरत न थी। आपने भी चलते वक्त लक्ष्मण को ऊर्म्मिला से नहीं मिलने दिया। माता से मिलने के बाद, झट कह दिया—

गय लषण जहँ जानकीनाथा।

आपके इष्टदेव के अनन्य सेवक "लषण" पर इतनी सख्ती क्यों? अपने कमण्डलु के करुणावारि का एक भी बूंद आपने ऊर्म्मिला के लिए न रक्खा। सारा का सारा कमण्डलु सीता को समर्पण कर दिया। एक ही चौपाई में ऊर्म्मिला की दशा का वर्णन कर देते। अथवा उसी के मुंह से कुछ कहलाते। पाठक सुन तो लेते कि राम-जानकी के बनवास और अपने पति के वियोग के सम्बन्ध में क्या-क्या भावनाएँ उसके कोमल हृदय में उत्पन्न हुई थीं। ऊर्म्मिला को जनकपुर से साकेत पहुँचा कर उसे एक दम ही भूल जाना अच्छा नहीं हुआ।

हाँ, भवभूति ने इस विषय में कुछ कृपा की है। राम-लक्ष्मण और जानकी के वन से लौट आने पर भवभूति को बिचारी ऊर्म्मिला एक बार याद आ गई है। चित्र-फलक पर ऊर्म्मिला को देख कर सीता ने लक्ष्मण से पूछा– "इयमप्यपरा का?" अर्थात् लक्ष्मण यह कौन है? इस प्रकार देवर से पूछना कौतुक से खाली नहीं। इसमें सरसता है। लक्ष्मण इस बात को समझ गये। वे कुछ लज्जित होकर मन कहने लगे–ऊर्म्मिला को सीता देवी पूछ रही हैं। उन्होंने सीता के प्रश्न का उत्तर दिए बिना ही ऊर्म्मिला के चित्र पर हाथ रख दिया। उनके हाथ से वह ढक गया। कैसे खेद की बात है कि ऊर्म्मिला का उज्ज्वल चरित्र-चित्र कवियों के द्वारा भी आज तक इसी तरह ढकता आया।

———

५-पापी पेट

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान

आज सभा में लाठी चार्ज हुआ। प्रायः ५००० निहत्थे और शान्त मनुष्यों पर पुलिस के पचास जवान लोहबन्द लाठियाँ लिये हुए टूट पड़े। लोग अपनी जान बचाकर भागे; पर भागते-भागते भी प्रायः पाँच सौ आदमियों को सख्त चोटें आईं और तीन तो बेहोश होकर सभा-स्थल में ही गिर पड़े। तीन-चार प्रमुख व्यक्ति गिरफ्तार करके जेल भेज दिए गए।

पुलिस ने झंडे के विशाल खम्भे को काटकर गिरा दिया और आग लगा दी। तिरंगा झंडा फाड़ कर पैरों तले रौंद डाला गया। सब के हृदय में सरकार की सत्ता का आतंक छा गया।

प्रकट रूप से विजय पुलिस की ही हुई। उनके सामने सभी लोग भागते हुए नज़र आए। और यदि किसी ने अपनी जगह पर खड़े रहने का साहस दिखलाया तो वह लाठियों की मारे धराशायी कर दिया गया। परन्तु इस विजय के होते हुए भी उनके चेहरों पर विजय का उल्लास नहीं था, प्रत्युत ग्लानि ही छाई थी। उनकी चाल में आनन्द का हलका-पन न था वरन ऐसा मालूम होता था कि जैसे पैर मन-मन भर के हो रहे हों। हृदय उछल नहीं रहा था, वरन एक प्रकार से दबा-सा जा रहा था।

पुलिस लाइन में पहुंच कर सिपाही लाठी चार्ज की चर्चा करने लगे। सभी को लाठी चार्ज करने, निहत्थे, निरपराध व्यक्तियों पर हाथ चलाने का अफ़सोस हो रहा था। सिपाही राम खिलावन ने अपनी

कोठरी में जाकर अन्दर से दरवाज़ा लगा लिया और लाठी चूल्हे में जला दी। उसकी लाठी के वार से एक सुकमार बालक की खोपडी फट गई थी। उसने मन में कहा, बिचारे निहत्थे और निरपराधों को कुत्तों की तरह लाठी से मारना! राम, राम, यह हत्या! किसके लिए? पेट के लिए? इस पापी पेट को तो जानवर भी भर लेते हैं। फिर हम आदमी होकर इतना पाप क्यों करें? इस बीस रुपट्टी के लिए यह कसाईपन? न, अब तो यह न हो सकेगा। जिस परमात्मा ने पेट दिया है वह अन्न भी देगा। लानत है ऐसी नोकरी पर; और दूसरे दिन नौकरी से इस्तीफ़ा देकर वह अपने देश को चला गया।

(२)

थानेदार बरकत उल्ला लाठी चार्ज के समय चिल्ला-चिल्लाकर हुक्म दे रहे थे 'मारो सालों को' 'आए हैं स्वराज लेने,' 'लगे खूब कस-कसके'। परन्तु अपने क्वार्टर्स में पहुँचते पहुँचते उनका जोश ठंडा पड़ गया। वे ज़बान के ख़राब अवश्य थे, पर हृदय के उतने ख़राब न थे। दरवाजे के अन्दर पैर रखते ही उनकी बीबी ने कहा-देखो तो यह गफूर कैसा फूट-फूटकर रो रहा है। क्या किया है आज तुमने? बार-बार पूछने पर भी यही कहता है कि 'अब्बा ने गोपू को जान से मार डाला है।' मेरी तो समझ में ही नहीं आता कि क्या हुआ?

सुनते ही थानेदार साहब सर थामकर बैठ गए। गोपाल बहुत सीधा और स्नेही लड़का था। थानेदार का लड़का और गोपाल एक ही कक्षा मे पढ़ते थे और दोनों में खूब दोस्ती थी। थानेदार और उनकी बीबी दोनों हीं गोपाल को अपने लड़के की ही तरह प्यार करते थे। थानेदार को बड़ा अफ़सोस हुआ, बोले, 'आग लगे ऐसी नौकरी में। गिरानी का ज़माना है, वरना मैं तो इस्तीफ़ा देकर चल देता। पर करूँ तो क्या करूं घर में बीबी-बच्चे हैं, बूढ़ी माँ है; इनका निर्वाह कैसे हो? नौकरी बुरी ज़रूर है, पर पेट का सवाल उससे भी बुरा है। आज ६०) माहवार मिलते हैं; नौकरी छोड़ने पर कोई बीस रुपट्टी को भी न पूछेगा-पापी

पेट के लिए नौकरी तो करनी ही पडेगी; पर हाँ, इस हाय-हत्या से बचने का एक उपाय है। तीन महीने की मेरी छुट्टी बाकी है। तीन महीने बहुत होते हैं। तब तक यह तूफ़ान निकल ही जाएगा। यह सोचकर उन्होंने छुट्टी की दरख्वास्त दूसरे ही दिन दे दी।

(३)

उधर कोतवाल बख्तावरसिंह का बुरा हाल था। मारे रंज के उनका सिर दुखने लगा था। बख्तावर सिंह राजपूत थे। उन्होंने टॉड का राजस्थान पढ़ा था। राजपूतों की वीरता की फड़काने-वाली कहानियाँ उन्हें याद थीं। चितौड़ के जौहर, जयमल और फत्ता के आत्म-बलिदान और राणा प्रताप की बहादुरी के चित्र उनके दिमाग़ में रह-रह कर चमक उठते थे। सोचते थे कि मैं समस्त राजपूत जाति की वीरता का वारिस हूँ। उनका सदियों का सचित गौरव मुझे प्राप्त है। मेरे पूर्वजों ने कभी निहत्थों पर शस्त्र नाहीं चलाए, मैंने आज यह क्या कर डाला? ऐसे मारने से तो मर जाना अच्छा। पर पापी पेट जो न कराए सो थोड़ा।

इसी संकल्प-विकल्प में पड़कर उन्होंने रात को भोजन भी नहीं किया। आखिर भोजन करते भी तो कैसे? उस घायल बच्चे का रक्त-रंजित कोमल शरीर उसकी सकरुण चीत्कार और उसकी हृदय को हिला देनेवाली निर्दोष, प्रश्नपूर्ण दृष्टि का चित्र उनकी आँखों के सामने रह-रहकर खिच जाता था। उसकी याद उनके हृदय को टुकडे-टुकडे किए डालती थी। इस प्रकार दुखते हुए हृदय को दबाकर वे कब सो गए, कौन जाने?

सबेरे उठने पर उन्हें याद आई कि कल ही जो उन्हें तनखाह के तीन सौ रुपये मिले थे, उसे वे कोट की जेब में ही रखकर सो गए थे। कहीं किसी ने निकाल न लिये हों, इस ख़याल से झटपट उन्होंने कोट की जेब में हाथ डाला और नोट निकाल कर गिनने लगे। एक-एक करके गिने; सौ-सौ के तीन नोट थे। उन पर सम्राट् की तसबीर बनी

थी और गवर्नमेन्ट की तरफ़ से किसी के हस्ताक्षर पर यह लिखा हुआ था कि 'मैं माँगते ही एक सौ रुपये देने का वायदा करता हूँ। रुक्का इन्दुल तलब प्रॉमिसरी नोट'—माँगते ही एक सौ रुपये! इसी प्रकार एक, दो, तीन, एक ही महीने में तीन सौ!! एक वर्ष में छत्तीस सौ, तीन हज़ार छै सौ; तीस वर्ष में एक लाख आठ हज़ार; हर साल तरक्की मिलेगी; फिर तीस साल के बाद पेन्शन और ऊपर से!! इसी उधेड़-बुन में थे कि इतने ही में टेलीफोन की घंटी बजी। वह चट से टेलीफोन के पास गए बोले 'हल्लो।' उधर से आवाज़ आई 'डी० एस० पी० और आप कौन हैं!' इन्होंने कहा 'शहर कोतवाल।' शहर कोतवाल का अधिकार पूर्ण शब्द उनके कानों में गूंज गया। उधर से फिर आवाज़ आई: 'अच्छा तो कोतवाल साहब! आज ११ बजे जेल के भीतर कल के गिरफ्तार-शुदा कैदियों का मुकद्दमा होगा। उसमें आपकी गवाही होगी। आप ठीक ११ बजे जेल पर पहुँच जाइये।' कोतवाल साहब ने कहा, 'बहुत अच्छा।'

अब कोतवाल साहब अपने दफ़तर के काम में लग गए। आफ़िस में पहुँचते ही उनका रोज़ की ही तरह कुड़-कुड़ाना शुरू हो गया। कोतवाली में काम बहुत रहता है, बड़ा शहर है; दिन भर काम करते-करते पिसे जाते हैं। एडी, चोटी का पसीना एक होजाता है। खाने तक की फुरसत नहीं मिलती। चौबीसों घंटे गुलामी बजानी पड़ती है, तब कहीं तीन सौ रुपट्टी मिलते हैं। तीन सौ में होता ही क्या है! आजकल तो पाँच सौ से कम में कोई इज्ज़तदार आदमी रह ही नहीं सकता। इसी के लिये झूट, सच, अन्याय, अत्याचार क्या-क्या नहीं करना पड़ता! पर उपाय भी तो कुछ नहीं है। इस छै फुट के शरीर को कायम रखने के लिये पेट में तो कुछ झोंकना ही पडेगा। क्या ही अच्छा होता, यदि भगवान् पेट न बनाता।' इन्हीं विचारों में समय हो गया और कोतवाल साहब ठीक ११ बजे गवाही देने के लिए जेल को चल दिए।

(४)

लाठी चार्ज का हुक्म देने के बाद ही मजिस्ट्रेट राय साहब कुंदन-लाल जी को बड़े साहब का एक अर्जेन्ट रुक्का मिला। साहब ने उन्हें फौरन बंगले पर बुलाया था। इधर लाठी चार्ज हो ही रहा था कि उधर वे मोटर पर सवार हो बड़े साहब के बंगले पहुँचे। काम की बातों के समाप्त हो जाने पर, उन्हें लाठी चार्ज कराने के लिए धन्यवाद देते हुए बड़े साहब ने इस बात का भी आश्वासन दिया कि राय बहादुरी के लिए उनकी सिफ़ारिस अवश्य की जायगी। बड़े साहब का उपकार मानते हुए राय साहब कुंदनलाल अपने बंगले लौटे। उन निहत्थों पर लाठी चलवाने के कारण उनकी आत्मा उन्हीं को कोस रही थी। हृदय कहता था कि यह बुरा किया। लाठी चार्ज बिना करवाए भी तो काम चल सकता था। आखिर सभा हो ही जाती तो अमन में क्या खलल पड़ जाता ? वे लोग सभा में किसी से मारपीट करने तो आए न थे। फिर मैंने ही उन्हें लाठी से पिटा कर कौनसा भला काम कर डाला ? किन्तु दिमाग़ ने उसी समय रोक कर कहा—यहाँ भले-बुरे का सवाल नहीं है ; तुमने तो अपना कर्त्तव्य पालन किया है। स्वयं भगवान् कृष्ण ने कर्त्तव्य पालन के लिए निकट सम्बंधियों तक को मारने का उपदेश अर्जुन को दिया था; फिर तुम्हारा कर्त्तव्य क्या है ? अपने अफ़सर की आज्ञा का पालन करना। आतंक जमाने के लिए लाठी चार्ज कराने का तुम्हें हुक्म था। तुम सरकार का नमक खाते हो, उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते। आज्ञा मिलने पर उचित-अनुचित का विचार करने की ज़रूरत ही नहीं। स्वयं धर्म-नीति के ज्ञाता भिष्म पितामह ने दुर्योधन का नमक खाने के ही कारण, अर्जुन का पक्ष सत्य होते हुए भी, दुर्योधन का ही साथ दिया। इसी प्रकार तुम्हें भी अपना कर्त्तव्य करना चाहिये; नतीजा बुरा हो चाहे भला।'

पर फिर उनके हृदय ने काटा, 'न जाने कितने निरपराधों के सिर फूटे होंगे ?' दिमाग़ ने कहा 'फूटने दो; जब तक सरकार की

नौकरी करते हो तब तक तुम्हें उनकी आज्ञा का पालन करना ही पड़ेगा, और यदि आज्ञा का पालन नहीं कर सकते तो ईमानदारी इसी में है कि नौकरी छोड़ दो।' माना कि आखिर ये लोग स्वराज्य के ही लिए झगड़ रहे हैं। उनका काम परमार्थ का है, सभी के भले के लिए है; पर किया क्या जाय? नौकरी छोड़ दी जाय तो इस पापी पेट के लिए भी तो कुछ चाहिए? हमारे मन में क्या देश-प्रेम नहीं है? पर खाली-पेट देश-प्रेम नहीं हो सकता। आज नौकरी छोड़ दें तो क्या स्वराज्य वाले मुझे ६००) दे देंगे? हमारे पीछे भी तो गृहस्थी लगी है; बाल-बच्चों का पेट तो पालना ही होगा। इसी प्रकार सोचते हुए वे अपने बँगले पहुँचे।

(५)

घर पहुँचने पर मालूम हुआ की पत्नी अस्पताल गई हैं। लाठी-काण्ड में लड़के का सिर फट गया हैं। उनका कलेजा बड़े वेग से धड़क उठा। उनका एक ही लड़का था। तुरंत ही मोटर बढ़ाई, अस्पताल जा पहुँचे; देखा कि उनकी स्त्री गोपू को गोद में लिये बैठी आँसू बहा रही है। गोपू के सिर में पट्टी बँधी है और उसकी आँखें बन्द हैं। उन्हे देखते ही पत्नी ने पीड़ा और तिरस्कार के स्वर में कहा, 'यह है तुम्हारे लाठी चार्ज का नतीजा।' उसका गला रुँध गया और आँसू और भी वेग से बह चले। राय साहब कुंदनलाल के मुंह से एक शब्द भी न निकला। इतने ही में डाक्टर ने आकर उन्हें सांत्वना देते हुए कहा, 'कोई खतरे की बात नहीं है। घाव गहरा जरूर है, पर इससे भी गहरे-गहरे घाव अच्छे हो जाते हैं। आप चिन्ता न कीजिए।'

राय साहब ने पत्नी से पूछा-आखिर, तुमने इसे वहाँ जाने ही क्यों दिया? पत्नी ने कहा-तो मुझ से पूछ के ही तो वहाँ गया था न?

रात भर गोपू बेहोश रहा और दूसरे दिन भी बेहोशी दूर न हुई। दूसरे दिन ११ बजे दिन से जेल में मुकद्दमा होने वाला था। परंतु न्यायाधीश ठीक समय पर न पहुँच सके; आज उन्हें एक मामले

में, जो ३ महीने से उनकी अदालत में चल रहा था, सजा सुनानी थी। मामला था, एक १३ साल की बालिका को बेचने के लिए भगा ले जाने का। जुर्म साबित हो चुका था। न्यायाधीश के द्वारा उसे छः महीने की सख्त कैद की सजा दी गई थी।

फैसला सुनाकर न्यायाधीश महाशय जेल आए। कोतवाल और राय साहब कुंदनलाल की गवाही हो जाने पर अभियुक्तों में से एक को दो साल की सख्त कैद और २०००) जुर्माना, दूसरे को डेड़ साल की सख्त कैद और १५००) जुर्माना,तीसरे को एक साल की सख्त कैद और ५००) जुर्माना की सजा दे दी गई। अभियुक्तों ने मुकद्दमें में किसी प्रकार का भाग नहीं लिया और न पेशी ही बढ़वाई, इसलिए मुकद्दमा करीब एक घंटे में ही समाप्त हो गया।

तीन अभियुक्त प्रतिष्ठित सज्जन थे और राय साहब की जान-पहचान के थे। मुकद्दमा खत्म हो जाने पर राय साहब ने उनसे माफी माँगते हुए कहा, 'क्षमा करना भाई, इस पापी पेट के कारण लाचार हैं, वरना क्या हमारे दिल में देश-प्रेम नहीं है?' यह कह कर उन्होंने अपनी आत्मा को कुछ सन्तोष दे डाला और जल्दी-जल्दी अस्पताल आए। गोपू की हालत और भी ज्यादह खराब हो गई थी। उसकी नाडी क्षीण पड़ती जाती थी। राय साहब के पहुँचने पर उसने पहली ही बार आँखें खोलीं; उसके मुंह पर हलकी सी मुस्कुराहट थी; धीमी आवाज से उसने कहा 'बन्देमा...। 'म्' की ध्वनि नहीं निकल पाई; 'म्' के साथ ही उसका मुंह खुला रह गया, और आँखें सदा के लिए बंद हो गईं। उसकी माता चीख मार कर लाश पर गिर पडी। राय साहब के शून्य हृदय में बार-बार प्रश्न उठ रहा था 'यह सब किसके लिए?' और मस्तिष्क से प्रति-ध्वनि उसका उत्तर दे रही थी, 'पापी पेट के लिए'।

६—बैरागी

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

पहाड़ की तलहटी में एक छोटा–सा समतल भूमि–खंड था। मौल-सिरी, अशोक, कदम और आम के वृक्षों का हरा–भरा कुटुम्ब उसे आबाद किये हुए था। दो–चार छोटे–छोटे फूलों के पौदे कोमल मृत्तिका के थालों में लगे थे। सब आर्द्र और सरस थे। तपी हुई लू और प्रभात का मलय–पवन एक क्षण के लिये इस निभृत कुंज में विश्राम कर लेते। भूमि लिपी हुई, स्वच्छ, एक तिनके का कहीं नाम नहीं और सुन्दर वेदियों और लता कुंजों से अलंकृत थी।

यह एक बैरागी की कुटी थी और तृण–कुटीर–उस पर लता-वितान, कुशासन और कम्बल, कमंडल और बल्कल उतने ही अभिराम थे जितने किसी राज–मन्दिर में कला शिल्पी के उत्तम शिल्प!

एक शिलाखंड पर बैरागी पश्चिम की ओर मुंह किये ध्यान में निमग्न था। अस्त होनेवाले सूर्य्य की अन्तिम किरणें उसकी बरौनियों में घुसना चाहती थीं; परन्तु बैरागी अटल, अचल था। बदन पर मुस्कुराहट और अंग पर ब्रह्मचर्य्य की रूक्षता थी। यौवन की अग्नि निर्वेद की राख से ढकी थी। शिलाखण्ड के नीचे ही पगडण्डी थी। पशुओं का झुण्ड उसी मार्ग से पहाडी गोचर भूमि से लौट रहा था। गोधूलि मुक्त गगन के अंक में आश्रय खोज रही थी। किसी ने पुकारा –'आश्रय मिलेगा?'

बैरागी का ध्यान टूटा। उसने देखा, सचमुच मलिन वसना गोधूलि उसके आश्रय में आश्रम माँग रही है। अंचल छिन्न बालों की लटें, फटे

हुए कम्बल के समान मांसल वृक्ष और स्कन्ध को ढकना चाहती थीं। गैरिक वसन जीर्ण और मलिन। सौंदर्यविकृत आँखें कह रही थी कि उन्होंने उमंग की रातें जगते हुए बिताई हैं। बैरागी अकस्मात् आँधी के झोंके में पडे हुए वृक्ष के समान तिलमिला गया। उसने धीरे से कहा– 'स्वागत अतिथि ! आओ।'

रजनी कें घने अन्धकार में तृण–कुटीर, वृक्षावली, जगमगाते हुए नक्षत्र, धुंधले चित्रपट के मदृश प्रतिभासित हो रहे थे। स्त्री अशोक के नीचे वेदी पर बैठी थी, बैरागी अपने कुटीर के ब्दार पर।

स्त्री ने पूछा–'जब तुमने अपना सोने का संसार पैरों से ठुकरा दिया, पुत्र–मुख–दर्शन का सुख, माता का अंक, यशविभव, सब छोड़ दिया, तब इस तुच्छ, भूमिखण्ड पर इतनी ममता क्यों? इतना परिश्रम, इतना यत्न किस लिए?'

'केवल तुम्हारे–जैसे अतिथियों की सेवा के लिये। जब कोई आश्रय हीन महलों सें ठुकरा दिया जाता है, तब उसे ऐसे ही आश्रय–स्थान अपने अंक में विश्राम देते हैं। मेरा परिश्रम सफल हो जाता है, जब कोई कोमल शय्या पर सोने वाला प्राणी इस मुलायम मिट्टी पर थोडी देर विश्राम करके सुखी हो जाता है।

'कब तक तुम ऐसा किया करोगे?'

'अनन्त काल तक प्राणियों की सेवा का सौभाग्य मुझे मिले!'

'तुम्हारा आश्रय कितने दिनों के लिये है?'

'जब तक उसे दूसरा आश्रय न मिले।'

'मुझे इस जीवन में कहीं आश्रय नहीं और न मिलने की संभावना है?'

'जीवन–भर?'–अश्चर्य से बैरागी ने पूछा।

'हाँ'–युवती के स्वर में विकृत थी।

'क्या तुम्हें ठंड लग रही है?'–बैरागी ने पूछा।

'हाँ' उसी प्रकार उत्तर मिला।

बैरागी ने कुछ सूखी लकड़ियाँ सुलगा दीं। अन्धकार-प्रदेश में दो-तीन चमकीली लपटें उठने लगी। एक धुंधला प्रकाश फैल गया। बैरागी ने एक कम्बल लाकर स्त्री को दिया। उसे ओढ़ कर वह बैठ गई। निर्जन प्रान्त में दो व्यक्ति। अग्नि-प्रज्वलित पवन ने थपेड़ा दिया। बैरागी ने पूछा-'कब तक बाहर बैठोगी?'

'रात बिताकर चली जाऊँगी, कोई आश्रय खोजूंगी; क्योंकि यहाँ रहकर बहुतों के सुख में बाधा डालना ठीक नहीं। इतने समय के लिए कुटी में क्यों जाऊं?'

बैरागी को जैसे बिजली का धक्का लगा। वह प्राण-पण से बल संकलित करके बोला-'नहीं-नहीं तुम स्वतन्त्रता से यहाँ रह सकती हो।'

'इस कुटी का मोह तुमसे नहीं छूटा। मैं उसमें समभागी होने का भय तुम्हारे लिये न उत्पन्न करूंगी!'-कहकर स्त्री ने सिर नीचा कर लिया। बैरागी के हृदय में सनसनी हो रही थो। वह न जाने क्या करने जा रहा था, सहसा बोल उठा-

'मुझे कोई पुकारता है, तुम इस कुटी को देखना!'- यह कहकर बैरागी अन्धकार में विलीन हो गया। स्त्री अकेली रह गई।

पथिक लोक बहुत दिन तक देखते रहे कि एक पीला मुख उस तृण-कुटीर से झाँक कर प्रतीक्षा के पथ में पलक-पाँवडे बिछाता रहा।

७–स्वसंस्कार और सत्संग

श्रीयुत रामचन्द्र शुक्ल

जो मनुष्य स्वसंस्कार में लगा हो उसे अपने मिलने-जुलने-वालों के आचरण पर भी दृष्टि रखनी चाहिए, उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि उनकी बुद्धि और उनका आचरण ठिकाने का है। साधारणतः हमें अपने ऊपर ऐसे प्रभावों को न पड़ने देना चाहिए जिनसे हमारी विवेचना की गति मंद हो वा भले-बुरे का विवेक क्षीण हो। जीवन का उद्देश्य क्या है? क्या यह भविष्य के लिए आयोजन का स्थान नहीं है! क्या वह तुम्हारे हाथ में सौंपा हुआ ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका लेखा तुम्हें परमात्मा को और अपनी आत्मा को देना होगा! सोचो तो कि दो, चार दस जितने गुण तुम्हें दिये गये हैं, उन्हें तुम्हें देनेवाले को पचास गुने सौ गुने करके लौटाना चाहिए, अथवा ज्यो के त्यों बिना ब्याज या वृद्धि के। यदि जीवन एक प्रहसन ही है जिसमें तुम गा-बजाकर और हँसी-ठट्टा करके समय काटो, तब जो कुछ उसके महत्व के विषय में मैंने कहा है, सब व्यर्थ ही है। पर जीवन में गम्भीर बातें और विपत्ति के दृश्य भी हैं। मेरी समझ में तो महाराणा प्रताप की भाँति संकट में दिन काटना वाजिद अली शाह की भाँति भोग-विलास करने से अच्छा है। मेरी समझ में शिवाजी के सवारों की तरह चने बाँधकर चलना औरंगजेब के सवारों की तरह हुक्के और पानदान के साथ चलने से अच्छा है। मैं जीवन को न तो दुःखमय और न सुखमय बतलाना चाहता हूँ, बल्कि उसे एक ऐसा अवसर समझता हूँ जो हमें कुछ कर्त्तव्यों के पालन के लिए दिया गया है। जो हमें परलोक

के लिए कुछ कमाई करने के लिए दिया गया है। हमारे सामने बहुत से ऐसे लोगों के दृष्टांत है जिन के विचार भी महान् थे। जैसा कि महात्मा डिमास्थनीज़ ने एथेंसवासियों से कहा था, उसी प्रकार हमें भी अपने मन में समझना चाहिए कि 'यदि हमें अपने महान् पूर्व पुरुषों की भांति कर्म करने का अवसर न मिले, तो हमें कम से कम अपने विचार उन की भांति रखने चाहिए।' अतः हमें सदा इस बात का ध्यान रचना चाहिए कि हम कैसा साथ करते हैं। दुनिया तो जैसी हमारी संगति होगी वैसा हमें समझेगी ही; पर हमें अपने कामों में भी संगति ही के अनुसार सहायता वा बाधा पहुँचेगी। उसका चित्त अत्यन्त दृढ समझना चाहिए जिसकी चित्त-वृत्ति पर उन लोगों का कुछ भी प्रभाव न पडे जिसका बराबर साथ रहता है। पर अच्छी तरह समझ रखो कि यह कभी हो नहीं सकता। चाहे तुम्हें जान पडे, पर उनका प्रभाव तुम पर बराबर हर घडी पड़ता रहेगा और उसी के अनुसार तुम उन्नत व अवनत होगे, उत्साहित व हतोत्साह होगे! एक विद्वान् से पूछा गया-'जीवन में किस शिक्षा की सब से अधिक आवश्यकता है?' उसने उत्तर दिया-'व्यर्थ की बातों को जानकर भी अनजान होना।' यदि हम जान-पहचान करने में बुद्धि-मानी से काम लेंगे तो हमें बरावर अनजान बनना पडेगा!

महामति ब्रेकन कहता है-'समूह का नाम संगति नहीं है। जहां प्रेम नहीं है, वहाँ लोगों की आकृतियाँ चित्रवत् हैं और उन की बात-चीत झाँझ की झनकार है।' पहचान करने में हमें कुछ स्वार्थ से काम लेना चाहिए। जान-पहचान के लोग ऐसे हों जिन से हम कुछ लाभ उठा सकते हों, जो हमारे जीवन को उत्तम और आनन्दमय करने में कुछ सहायता दे सकते हैं। मनुष्य का जीवन थोड़ा है; उस में खोने के लिए समय नहीं। यदि क, ख और ग हमारे लिए कुछ नहीं कर सकते, न कोई बुद्धिमानी वा विनोद की बातचीत कर सकते हैं, न कोई अच्छी बात बतला सकते हैं न अपनी सहानुभूति-द्वारा हमें ढाढ़स बँधा सकते

हैं, न हमारे आनन्द में सम्मिलित हो सकते हैं, न हमें कर्त्तव्य का ध्यान दिला सकते हैं, तो ईश्वर हमें उनसे दूर ही रक्खे। हमें अपने चारों ओर जड़ मूर्तियाँ सजाना नहीं है। आजकल जान-पहचान बढ़ाना कोई बडी बात नहीं है। कोई भी युवा पुरुष ऐसे अनेक युवा पुरुषों को पा सकता है जो उसके साथ थिएटर देखने जाएँगे, नाच-रंग में जायँगे, सैर-सपाटे में जाएँगे, भोजन का निमंत्रण स्वीकार करेंगे। यदि ऐसे जान-पहचान के लोगों से कुछ हानि न होगी तो लाभ भी न होगा। पर यदि हानि होगी तो बडी भारी होगी। सोचो तो, तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा, यदि ये जान-पहचान के लोग उन मनचले युवकों में से निकले जो अमीरों की बुराइयों और मूर्खताओं की नक़ल किया करते हैं, दिन-रात बनाव-सिंगार में रहा करते हैं; कुलटा स्त्रियों के फोटो मोल लिया करते हैं, महफ़िलों में '''ओहो-हो', 'वाह'-'वाह' किया करते हैं, गलियों में ठट्ठा मारते हैं और सिगरेट का धुआँ उड़ाते चला करते हैं। ऐसे नवयुवकों से बढ़कर शून्य, निस्सार और शोचनीय जीवन और किसका है? वे अच्छी बातों के सच्चे आनन्द से कोसों दूर हैं। उनके लिए न तो संसार में सुन्दर और मनोहर उक्तिवाले कवि हुए हैं और न सुन्दर आचरणवाले महात्मा हुए हैं। उन के लिए बडे-बडे वीर अद्भुत कर्म कर गये हैं और न बडे-बडे ग्रन्थकार ऐसे विचार छोड़ गये हैं जिनसे मनुष्य-जाति के हृदय में सात्विकता की उमंगें उठती हैं। उन के लिए फूल-पत्तियों में कोई सौन्दर्य नहीं, झरनों के कल-कल में मधुर संगीत नहीं, अनन्त सागर-तरंगों में गम्भीर रहस्यों का आभास नहीं, उनके भाग्य में सच्चे प्रयत्न और पुरुषार्थ का आनन्द नहीं, उन के भाग्य में सच्ची प्रीति का सुख और कोमल हृदय की शांति नहीं। जिन की आत्मा अपने इंद्रिय-विषयों में ही लिप्त है, जिनका हृदय नीच आशाओं और कुत्सित विचारों से कलुषित है, ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों को दिन-दिन अंधकार में पतित होते देख कौन ऐसा होगा जो तरस न खायगा? जिसने स्वसंस्कार का विचार अपने हृदय में ठान लिया

हो, उसे ऐसे प्राणियों का स्थान न करना चाहिए। मकदूनिया का बादशाह डेमेट्रियस कभी-कभी राज्य का सब काम छोड़कर अपने ही मेल के दस-पाँच साथियों को लेकर विषय-वासना में लिप्त रहा करता था। एक बार बीमारी का बहाना कर के इसी प्रकार वह अपने दिन काट रहा था। इसी बीच उसका पिता उससे मिलने के लिए गया और उसने एक हँसमुख जवान को कोठरी से बाहर निकलते देखा। जब पिता कोठरी के भीतर पहुँचा, तब डेमेट्रियस ने कहा-'ज्वर ने मुझे अभी छोड़ा है।' पिता ने कहा-'हाँ! ठीक है, वह दरवाजेपर मुझे मिला था।'

कुसंग का ज्वर सबसे भयानक होता है। यह केवल नीति और सद्वृत्ति का ही नाश नहीं करता, बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है। किसी युवा पुरुष की संगति यदि बुरी होगी, तो वह उस के पैर में बँधी चक्की के समान होगी जो उसे दिन-दिन अवनति के गढे में गिराती जायगी; और यदि अच्छी होगी तो सहारा देने वाले बाहु के समान होगी जो उसे निरंतर उन्नति की ओर उठाती जायगी।

इंग्लैंड के एक विद्वान् को युवावस्था में राजा के दरबारियों में जगह नहीं मिली। इस पर जिन्दगी भर वह अपने भाग्य को सराहता रहा। बहुत-से लोग तो इसे अपना बड़ा भारी दुर्भाग्य समझते, पर वह अच्छी तरह जानता था कि वहाँ वह बुरे लोगों की संगति में पड़ता जो उसकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होते। बहुत-से लोग ऐसे होते हैं जिन के घडी भर के साथ से भी बुद्धि भ्रष्ट होती है; क्योंकि उतने ही बीच में ऐसी-ऐसी बातें कही जाती हैं जो कानों में न पड़नी चाहिएँ, चित्त पर ऐसे-ऐसे प्रभाव पड़ते हैं जिनसे उसकी पवित्रता का नाश होता है। बुराई अटल भाव धारण करके बैठती है। बुरी बातें हमारी धारणा में बहुत दिनों तक टिकती हैं। इस बात को प्रायः सब लोग जानते हैं कि भद्दी दिल्लगी व फूहड़ गीत जितनी जल्दी ध्यानपर चढ़ते हैं, उतनी जल्दी कोई गंभीर वा अच्छी बात नहीं। एक बार

एक मित्र ने मुझसे कहा कि उसने लड़कपन में कहीं से एक बुरी कहावत सुन पाई थी जिसका ध्यान वह लाख चेष्टा करता है कि न आवे, पर बार–बार आता है। जिन भावनाओं को हम दूर रखना चाहते हैं, जिन बातों को हम याद नहीं करना चाहते वे बार–बार हृदय में उठती हैं और बेधती हैं। अतः तुम पूरी चौकसी रक्खो, ऐसे लोगों को कभी साथी न बनाओ जो अश्लील अपवित्र और फूहड़ बातों से तुम्हे हँसाना चाहें। सावधान रहो। ऐसा न हो कि पहले-पहले तुम इसे एक बहुत सामान्य बात समझो और सोचो कि एक बार ऐसा हुआ, फिर ऐसा न होगा; अथवा तुम्हारे चरित्र बल का ऐसा प्रभाव पडेगा कि ऐसी बातें बकनेवाले आगे चल कर आप सुधर जायँगे। नहीं, ऐसा नहीं होगा। जब एक बार मनुष्य अपना पैर कीचड़ में डाल देता है, तब फिर यह नहीं देखता कि वह कहाँ और कैसी जगह पर पैर रखता है। धीरे-धीरे उन बुरी बातों से अभ्यस्त होते–होते तुम्हारी घृणा कम हो जायगी। पीछे तुम्हें उनसे चिढ़ न मालूम होगी, क्योंकि तुम यह सोचने लगोगे कि चिढ़ने की बात ही क्या है। तुम्हारा विवेक कुंठित हो जायगा और तुम्हें भले-बुरे की पहचान न रह जायगी। अन्त में होते-होते तुम भी बुराई के भक्त बन जाओगे। अतः हृदय को उज्वल और निष्कलंक रखने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि बुरी संतति की छूत से बचो। यह पुरानी कहावत है कि :

काजल की कोठरी में कैसोहू सयानों जाय,
एक लीक काजर की लागिहै पै लागिहै ॥

जो कुछ ऊपर लिखा गया है, उससे यह न समझना चाहिए कि मैं युवा पुरुषों को समाज में प्रवेश करने से रोकता हूँ। नहीं, कदापि नहीं। अच्छा समाज यदि मिले तो उसका अच्छा प्रभाव पड़ता है और उससे आत्म-संस्कार के कार्य में बड़ी सहायता मिलती है। प्रायः देखने में आता है कि गाँवों से जो लोग नगरों में जीविका आदि के लिए आते हैं, उनका जी बहुत दिनों तक संगे-साथी न रहने से, बहुत घबराता ह और कभी-कभी उन्हें ऐसे लोगोंका साथ कर लेना पड़ता है

जो उनकी रुचि के अनुकूल नहीं होते। ऐसे लोगों के लिए अच्छा तो यह होता है कि वे किसी साहित्यिक-समाज में प्रवेश करें। पर वहाँ भी उन्हें सब बातों की जानकारी नहीं प्राप्त हो सकती जो स्वशिक्षा के लिए आवश्यक है। समाज में प्रवेश करने से हमें अपना यथार्थ मूल्य विदित होता है। हम देखते हैं कि हम उतने चतुर नहीं हैं जितने एक कोने में बैठकर कोई पुस्तक आदि हाथ में लेकर अपने को समझा करते थे। भिन्न-भिन्न लोगों में भिन्न-भिन्न प्रकार के गुण होते हैं। यदि कोई एक बात में निपुण है तो दूसरा दूसरी में। समाज में प्रवेश करके हम देखते हैं कि इस बात की कितनी आवश्यकता है कि लोग हमारी भूलों को क्षमा करें; अतः हम दूसरों की भूल-चूक को क्षमा करना सीखते हैं। हम कई ठोकरें खाकर नम्रता और अधीनता का पाठ सीखते हैं। इनके अतिरिक्त और बड़े-बड़े लाभ होते हैं। समाज में सम्मिलित होने से हमारी समझ बढ़ती है, हमारी विवेक-बुद्धि तीव्र होती है, वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में हमारी धारणा विस्तृत होती है, हमारी सहानुभूति गहरी होती है, हमें अपनी शक्तियों के उपयोग का अभ्यास होता है। समाज एक परेड है जहाँ हम चढ़ाई करना सीखते हैं, अपने साथियों के साथ-साथ मिलकर बढ़ना और आज्ञा-पालन करना सीखते हैं, इनसे भी बढ़कर और-और बातें हम सीखते हैं। हम दूसरों का ध्यान रखना, उनके लिए कुछ स्वार्थत्याग करना सीखते हैं। स्वसंस्काराभिलाषी युवक को उस चाल-व्यवहार की अवहेलना न करनी चाहिए जो भले आदमियों के समाज में आवश्यक समझी जाती है। बड़ों के प्रति सम्मान और सरलता का व्यवहार, बराबरवालों से प्रसन्नता का व्यवहार और छोटों के प्रति कोमलता का व्यवहार भले-मानुसों के लक्षण हैं। सुडौल और सुन्दर वस्तु को देखकर हम लोग प्रसन्न होते हैं। सुन्दर चाल-ढाल को देखकर हम सब लोग आनन्दित होते हैं। मीठे वचनों को सुनकर हम सब लोग सन्तुष्ट होते है। यह सब बातें हमें मनोनीत होती हैं। किसी भले आदमी को यह कहते सुनकर कि फटी-पुरानी और मैली पुस्तक लेकर पढ़ते नहीं बनता, हमें

हँसना नहीं चाहिए। सोचो तो कि तुम्हारी मंडली में उजड्ड गँवार आकर फूहड़ बातें बकने लगे तो तुम्हें कितना बुरा लगेगा।

युवा पुरुषों को बुरे अनुभावों से बचाने के लिए सबसे सीधा और सुगम उपाय सत्संग है। अच्छे आदमियों के समाज में बैठने से, जहाँ परस्पर प्रेम और शांति का आनन्द रहता है, बडी भारी रक्षा रहती है। यह निश्चय समझना चाहिए कि ऐसे बहुत कम मनुष्य मिलेंगे जो पहले-पहल प्रसन्नता के साथ बुराइयों में फंसते हों, तथा संसार की बुराइयों का अनुभव प्राप्त करते हुए जो कुछ न हिचकते हों और जिनके जी में कुछ खटका न होता हो। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश युवा पुरुष जब पहले-पहल कुमार्ग पर पैर रखते हैं, तब यदि संसार में कोई उनका हाथ पकड़ने-वाला हो तो वे उससे हट सकते हैं। संसार में सब प्रकार के रंग में रहने का उपदेश तो बहुत लोग किया करते हैं और बहुत-से लोग विषय-मदमत्त भी होते हैं, पर अपनी इस मौज में आगे चलकर वे ऊब जाते हैं और सौ में निन्नानवे मनुष्य इस मौज को लीक ग्लानि और घृणा के साथ पीटते चले जाते हैं, उन्हें उसमें कोई आनन्द नहीं रह जाता, और अन्त में उनकी आत्मा इतनी जड़ हो जाती है कि उसमें सत्य और सौंदर्य का कुछ भी अनुभव नहीं रह जाता। पर इस पतित दशा में पड़ने के पहले मनुष्य अच्छी बातों के लिए छटपटाता अवश्य है, और उसका यह छटपटाना सफल हो सकता है, यदि वह इस संसार के कलुषित अँधेरे भागों से निकलकर किसी अच्छें परिवार व अच्छे समाज में पड़ जाय।

हमारे बड़े नगरों के युवक साधारणतः दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—एक वे जिन्होंने संसार के व्यवहारों में प्रवेश करने के पहले इस प्रकार की तैयारी नहीं की। पहले प्रकार के लोगों के लिए तो कथा-वार्ता, धर्मोपदेश आदि बहुत-से साधन मिल जाते हैं, जिससे उनके चित्त पर घर ही का सा संस्कार बना रहता है। उनके लिए किसी नये यंत्र की आवश्यकता नहीं होती। जो यंत्र उनके पास रहता है,

उसी के स्वच्छंद उपयोग की आवश्यकता होती है। धर्मोपदेशकों को युवा पुरुषों की बहुत खोज-खबर रखनी चाहिए, उन्हें कुमार्ग से बचाने का उद्योग करना चाहिए, उनकी सहायता के लिए प्रत्येक समय उद्यत रहना चाहिए। माता-पिता को भी चाहिए कि युवकों को घर से बाहर किसी अन्य स्थान पर भेजते समय ऐसा प्रबंध करें कि उनके चित्त के संस्कार शुद्ध रहें। हमारे युवा पुरुष चाहे जिस नगर में जायँ, उन्हे धर्म-चर्चा सुनने का अवसर मिल सकता है, धार्मिक सज्जनों की मंडली मिल सकती है; क्योंकि भारतवर्ष के ऐसा धार्मिक देश दूसरा नहीं।

अब रह गये दूसरे वर्ग के लोग जिन्होंने परिवार में सच्चा सुख नहीं प्राप्त किया हैं, जो किसी कारणवश धार्मिक संस्कार से वंचित रहे हैं। ऐसों के लिए तो कोई उपाय बताना कठिन है। स्वसंस्कार का प्रयत्न यदि हृदय से करें तो ऐसे युवा पुरुष भी दुष्ट प्रलोभनों से बच सकते हैं; पर उनके लिए सबसे अच्छा उपाय यही है कि वे सत्संग करें। सत्संग का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। इसमें से बहुत-से लोग तो समाजों और साहित्य-संस्थाओ में सम्मिलित होकर अपने समय का सदुपयोग कर सकते हैं और बुराइयों में पड़ने से बचे रह सकते हैं। पर बहुत-से ऐसे निकलेगे जिनकी सभा-समाजों की ओर प्रवृत्ति नहीं होगी, जिन्हें धर्मोपदेश अच्छे नहीं लगते, जो अधिक चहल-पहल और मजेदारी की बातें चाहते हैं। बहुत-से युवा पुरुष जो गलियों में टेढी टोपी लगाकर निकलते है, जो अश्लील ठुमरी टप्पा गाते चलते हैं, जो दिन-रात शतरंज, गंजीफा खेलते रहते हैं, जो दुनिया में सब तरह के मजे उड़ाने का दम भरते हैं, जो मेलों-तमाशों में खूब बन-ठनकर निकलते हैं, जो महफिलों में बिना बुलाये पहुँचते हैं, उनके लिए क्या किया जा सकता है? वे समाज के कोढ हैं, वे उसी प्रकार भयंकर हैं, जिस प्रकार चोर और डाकू, जिनके पीछे पुलिस तैनात रहती है। वे समाज में बड़े-बड़े अनर्थों का सूत्रपात करते हैं।

८--राजपूतनी का बदला

श्रीयुत द्विजेन्द्र लाल राय

(नाटक)

पहला दृश्य

(स्थान–मेवाड़ के राना राजसिंह के महल का बाहरी हिस्सा। समय–तीसरा पहर। ऊँचे आसन पर राना राजसिंह बैठे हैं। सामने बच्चे को गोद में लिए जसवन्तसिंह की रानी महामाया घुटने टेके बैठी है। दाहिनी ओर मारवाड़ के सेनापति दुर्गादास और कासिम खडे हैं।)

रानी–राना! मेरे इस बच्चे को अपने गढ़ में स्थान दीजिए; बहुत दिनों के लिए नहीं राना। थोडे ही दिनों के लिए।

राजसिंह–महामाया, तुम्हारा लड़का मेरा गैर नहीं है। उसकी रक्षा के लिए यों गिड़गिड़ाने की क्या ज़रूरत? दुर्गादास! औरंगजेब क्या इस बच्चे के भी प्राण लेना चाहते हैं?

दुर्गादास–नहीं तो इसके पकड़ने का और क्या उद्देश्य हो सकता है, महाराना?

रानी–एक लड़का और एक लड़की–केवल यही संपत्ति लेकर उस दिन दिल्ली से निकली थी। राह में लड़की मर गई। अब मेरी संपत्ति यही दूध-पीता बच्चा है। मेरे इस सर्वस्व पुत्र की रक्षा कीजिये महाराना! ईश्वर आपका भला करेंगे।

राजसिंह–पुत्र के लिए तनिक भी चिन्ता न करो, महामाया! मैं अपने प्राण देकर भी इसकी रक्षा करूँगा।

रानी-राना की जय हो।

राजसिंह-दुर्गादास! औरंगजेब के अत्याचार की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। उन्होंने हिन्दुओं के ऊपर फिर से 'जज़िया' लगाया है। उसके ऊपर मारवाड़पति जसवन्तसिंह के परिवार पर ऐसा दारुण अन्याय। देखूं पत्र लिखकर शायद औरंगजेब को ठीक राह पर ला सकूं।

रानी-पत्र लिखकर? अनुनय-विनय करके? घुटने टेककर? भीख माँगकर? नहीं महाराना! इस तरह ढीले पडकर नहीं। अब की इस बादशाहत को जड़ से उखाडे बिना मेरे कलेजे में ठण्डक नहीं पडेगी।

राजसिंह-नहीं महामाया! रक्त की नदियाँ बहाये बिना यह काम नहीं हो सकता। जब एक राज्य स्थापित हो गया है, तब उसे जड़ से उखाड़ने की चेष्टा करना अन्याय है। इसमें सहस्रों मनुष्यों की हत्या होगी और प्रजा को कष्ट पहुँचेगा।

रानी-अपने देश में दूसरी जाति के राज्य की रक्षा! क्या यही क्षत्रियों का धर्म्म है!

राजसिंह-क्षत्रियों का धर्म केवल मार-काट करना ही नहीं है। मरने-मारने की विद्या ऊँचे दर्जे की विद्या नहीं है। किसी आर्त की रक्षा के या अपने रक्षा के अतिरिक्त और किसी उद्देश्य से मारकाट करने का नाम हत्या है। (इसके बाद कासिम की ओर देख कर) यह कौन है?

दुर्गादास-यह कासिम उल्ला, मेरा पुराना मित्र है। इसने अपनी जान की परवा न करके हमारे राजकुँवर की रक्षा की है।

कासिम-राना साहब! मैं इन लोगों का पुराना नमकख्वार हूँ। सरदार (दुर्गादास) ने एक दफ़ा बडी आफत से मुझको बचाया था। तब से मैं इन्हीं की गुलामी में हूँ।

राजसिंह-दुर्गादास! कासिम भी तो मुसलमान है!

कासिम-महाराना मेरी कौम को बुरा न कहें। मेरी कौम ख़राब नहीं है। हम सब हो सकते हैं, पर नमकहराम नहीं।

राजसिंह-नहीं क़ासिम! मैं तुम्हारी जाति की निन्दा नहीं करता, मैं तो बादशाह के साथ तुम्हारी तुलना करता हूँ। बादशाह इस छोटे बच्चे की जान लेना चाहते हैं, और तुम—

क़ासिम-अहा, कैसा भोला-भाला सुन्दर बच्चा है! देखने से जी चाहता है, गोद में लेकर प्यार कर लें।

राजसिंह-औरंगजेब! तुम दिल्ली के सिंहासन पर बैठे एक निरीह बालक की हत्या करने के लिए व्यग्र हो रहे हो और तुम्हारी ही जाति का यह कासिम उसे प्राण देकर भी बचाने के लिए तैयार है। ईश्वर की दृष्टि में कौन बड़ा है औरंगजेब!

रानी-राना! मैं इस भारी अत्याचार का बदला लूंगी। बदला चुकाने के लिए ही मैं उस दिन और स्त्रियों के साथ नहीं जल मरी। इसी के लिए अब तक जिंदा हूँ। आज केवल इस बच्चे की रक्षा कीजिए।

राजसिंह-मैं कह चुका हूँ, इसके लिए कोई चिन्ता नहीं है। महामाया, तुम अपने लड़के का लेकर यहाँ बेखटके रहो।

रानी-नहीं राना, मैं यहाँ नहीं रहूँगी। अब यह मेरा घर नहीं है। मैं अपने स्वर्गवासी स्वामी के राज्य को लौट जाऊँगी। संपत्ति और विपत्ति में, शांत और अशांति में, जीवन और मरण में स्वामी का घर है, पिता का घर नहीं। मैं मारवाड़ चली जाऊँगी।

राजसिंह-किन्तु अभी तो वहाँ तुम बेखटके नहीं रह सकती, बहन!

रानी-बेखटके! मैं क्या यहाँ अपने लिए बेखटके जगह खोजने आई हूँ! नही राना, मैं उसे नहीं खोजती। मैं अब आपत्ति को खोजती हूँ। आपत्ति की गोद में पली हूँ, भूकम्प में मेरा जन्म हुआ है, तूफ़ान में मेरा घर है, प्रलय के बादलो में मेरी सेज है। विपत्ति! विपत्ति को तो मैंने अपनी सखी बना लिया है, राना। मुझे अब और क्या विपत्ति होगी। पति मारा गया, सर्वस्व लुट गया—

अब और क्या विपत्ति होगी! राना, मेरे लिए अब एक ही विपत्ति और हो सकती है– इस बच्चे की हत्या। इसकी रक्षा कीजिए राना, और कुछ नही चाहिए, इसकी रक्षा कीजिए! मैं मारवाड़ जाऊँगी– आग सुलगाऊँगी आग! ऐसी आग सुलगाऊँगी, जिसमें औरंगजेब क्या चीज़ है, सारा मुग़लों का राज्य जलकर ख़ाक में मिल जायगा।

(पर्दा गिरता है)

दूसरा दृश्य

(श्मशान–राजपूतों की छावनी। समय तीसरा पहर। राना राजसिंह और महामाया दोनों बैठे है। सामने मुगलों के झण्डे लिये दुर्गादास और अन्यान्य खडे हैं।)

राजसिंह–धन्य हो दुर्गादास! तुमने मुगलों को मेवाड़ से निकाल बाहर कर दिया!

रानी–धन्य हो दुर्गादास! तुम बेगम को कैद कर लाये। आज मैं बदला चुकाऊँगी।

राजसिंह–क्या दुर्गादास, तुम बादशाह की बेगम को कैदकर लाये हो? कौन बेगम?

दुर्गादास–काश्मीरी बेगम–गुलनार।

राजसिंह–उन्हें कैदकर लाये? उसी घडी छोड़ नहीं दिया?

दुर्गादास–राना साहब! मैं केवल सेनापति था। युद्ध में शत्रु के आदमियों को कैद करने भर का मुझे अधिकार था। कैदियों के छोड़ने का अधिकार राजा को होता है।

राजसिंह–जाओ दुर्गादास! बेगम साहबा को इसी दम छुटकारा देकर इज्ज़त के साथ बादशाह के पास भेज दो।

रानी–क्या राना?

राजसिंह–स्त्री के साथ हम लोगों का कुछ झगड़ा नहीं है।

रानी-स्त्री के साथ झगड़ा नहीं है! तो फिर मैंने क्यों आकर आपका आश्रय लिया, महाराना? मुझे ही पकड़ने के लिए क्या वह भारी चढ़ाई नहीं हुई है? मैं इस युद्ध में पकड़ ली जाती, तो बेगम मेरे साथ क्या सलूक करती?

राजसिंह-हम मुगलों की नीति का अनुकरण करने नहीं बैठे हैं।

रानी-नहीं महाराना! मैं इस बेगम को इस तरह न छोड़ूंगी। मैं बदला चुकाऊँगी।

राजसिंह-बदला? किसका बदला, महामाया?

रानी-किसका? यह पूछिए कि उसकी किस-किस हरकत का बदला न लूंगी। इस काश्मीरी बेगम ही मेरे पति और पुत्र की हत्या की है। यह काश्मीरी बेगम ने ही मेरे यों जंगली जानवरों की तरह एक जगह से दूसरी जगह भागते फिरने का कारण है- इसका बदला लूंगी राना! मैं उसे अपनी मुट्ठी में पाकर न छोड़ूंगी, बदला लूंगी।

राजसिंह-क्या बदला लोगी?

रानी-इस बारें में अभी मैंने कुछ नहीं सोचा है राना! इस बारे में मैं सोचुंगी। सोचकार ठीक करूँगी। उसे तिल-तिल करके जलाना भी यथेष्ट न होगा। उसके शरीर में सुइयाँ चुभाना भी यथेष्ट न होगा। सोचकर ठीक करूँगी। नये प्रकार की यन्त्रणा के यन्त्र का आविष्कार करूँगी। स्त्री के योग्य दण्ड स्त्री ही सोच सकती ह।

राजसिंह-महामाया, तुमको पाप का दण्ड देने का क्या अधिकार है? जिनका यह अधिकार है वे ही-

रानी-(उठकर) वे-? -कहाँ है वे? वे हैं कहाँ? वे हाथ समेटे बैठे हैं। आकाश का वज्र सदा पापी के सिर पर ही नहीं गिरता, महाराज! पुण्यात्मा के सिर पर भी गिरता है। भूकम्प से पापी का ही घर-बार नहीं नष्ट होता, बेचारे निरीह लोगों के झोपड़े भी मिट्टी मे मिल जाते हैं। प्रबल बढ़िया में क्षुद्र घास-फूस ही डूबते हैं, बड़े-बड़े पेड़ वैसे ही सिर ऊँचा किये खड़े रहते हैं। ईश्वर का नियम धर्म-अधर्म

का विचार नहीं करता-जहाँ जिसे दुर्बल, जीर्ण तथा पुराना पाता है उसी की गर्दन पहले दबाता है।

राजसिंह-(शान्त भाव से) महामाया! जोश में आकर ईश्वर का विचार करने के लिए तैयार न होओ-निश्चय करो, ईश्वर के नियम से अन्त को अधर्म का अवश्य पतन होगा।

रानी-कब होगा? मैंने तो आज तक नहीं देखा राना! मैंने तो आज तक यही देखा है कि सरलता सदा से चालाकी के पैरों पड़कर भीख माँगती आती है, चालाकी ने एक बार उसकी ओर आँख उठाकर देखा भी नहीं। सत्य सदा से झूठ की गुलामी करता है-अपने मस्तक को ऊँचा नहीं कर सकता। मैं सदा से न्याय की जगह पर अन्याय की विजय-पताका फहराती हुई देख रही हूँ। मैं सदा से धर्म के टूटे-फूटे मन्दिर में अधर्म की विजय-ध्वनि सुनती आ रही हूँ। पुण्य के हरे-भरे राज्य के ऊपर से भयानक पाप की रक्त-रंजित बहिया लहराती देख पड़ती है। घूस, अत्याचार, झूठ, विश्वासघात आदि से पृथ्वी परिपूर्ण हो रही है। तब भी तुम कहते हो, अन्त में धर्म की जय होगी! कब होगी? बतलाओ, कब होगी?

राजसिंह-शान्त होओ, महामाया! अपने को सँभालो-धैर्य धारण करो।

रानी-धैर्य! राना, यदि तुम स्त्री होतें और तुम्हारा पति परदेश में विश्वासघातक के हाथों विष देकर मारा जाता, यदि बेदर्दी के साथ तुम्हारे सरल, उदार पुत्र की हत्या की जाती, यदि मेरी तरह नन्हें-से निस्सहाय एवं निरीह बच्चे को लेकर एक देश से दूसरे देश में आकर भिक्षुक की तरह द्वार-द्वार मारे-मारे फिरना पड़ता, तो आप समझते। धैर्य! नहीं राना-मैं उस पापिन को यों न छोड़ूँगी।

राजसिंह-दुर्गादास! जीते-जी मैं अबला के ऊपर अत्याचार होते न देख सकूँगा। जाओ, तुम सम्मान के साथ बेगम को बादशाह के पास पहुँचा दो।

दुर्गादास-क्षमा कीजिए, महारानी ! इस युद्ध में हम सब राना साहब के अनुचर हैं। बेगम आज मेवाड़ के राना के यहाँ कैद हैं, मारवाड़ की रानी के यहाँ नहीं। महारानी ! अपने को न भूलिए। आप ही की रक्षा के लिए राना ने यह युद्ध किया है। राना आपके हितचिन्तक हैं। उनकी आज्ञा मानना आपका धर्म है।

रानी-(कुछ देर चुप रहकर) तुम सच कहते हो, दुर्गादास ! (फिर राना के सामने घुटने टेककर) राना ! क्षमा कीजिये। हृदय के शोक के वेग से अधीर होकर मैं पागलों-सी हो गई-क्षमा कीजिये। किन्तु यदि आप इस तीव्र वेदना, इस दारुण ज्वाला, इस गहरी जी की जलन को जान सकते-मैं पागल होरही हूँ। क्षमा कीजिये।

राजसिंह-मैं पहले क्षमा कर चुका हूँ, महामाया। मैं चाहता हूँ कि जो क्षमा तुमने मुझसे माँगी है, वही क्षमा तुम बेगम को दिखलाओ। मैं विचार के लिए बेगम को तुम्हारे पास छोड़ जाता हूँ। उसे क्षमा करो, अपना महत्त्व दिखलाओ। महामाया ! स्नेह, दया, भक्ति, क्षमा आदि गुणों से ही स्त्री जाति पूजनीय है। ये गुण ही अबला की शक्ति हैं। और यदि तुम दण्ड ही देना चाहती हो तो सोचो तो, तुमने अपने ऊपर अत्याचार करनेवाले को यदि हँसते-हँसते क्षमा कर दिया, तो क्या यह उसके लिए कम दण्ड है !

रानी-ठीक है। बेगम को ले आओ दुर्गादास !

(दुर्गादास का प्रस्थान)

राजसिंह अच्छा, मैं तुम्हारी दया के ऊपर बेगम को छोड़ जाता हूँ, महामाया।

(राना का प्रस्थान)

रानी-यह ठीक है ! इस न्याय-आसन पर बैठकर मैं उसका विचार करूंगी। इतना ही यथेष्ट है। भारत की सम्राज्ञी, औरंगजेब की बेगम, मेरे पति तथा पुत्र की हत्या करनेवाली डाइन, आज मेरे सामने अपराधी कैदी की दशा में खडी होगी, मैं सिंहासन पर बैठे--बैठे उसके मुंह की ओर देखकर उसे प्राणों की भिक्षा दूंगी। यही क्या बुरा है-! वह

आ रही है। इस समय भी मुंह पर वही ऐंठन, नजर में वही घमण्ड, चाल में वही अहंकार है। जगदीश्वर! पाप इतना उज्ज्वल और विचित्र!

(बेगम गुलनार के साथ दुर्गादास का प्रवेश)

रानी-सलाम बेगम साहबा!

गुलनार-जसवन्तसिंह की रानी?

रानी-हाँ! जिसे पकड़ने के लिए इतनी तैयारी से यह चढाई हुई थी-वही जसवन्तसिंह की रानी। आपने मेरे पति और पुत्रों को खा लिया। इससे भी राक्षसी का पेट नहीं भरा! अब मुझे और मेरे छोटे बच्चे को भी खाना चाहती हो। क्या इसी बीच में सब भूल गईं? इतनी भूल करने से काम कैसे चल सकता है बेगम साहबा?

गुलनार-(दुर्गादास से) तुम्हीं दुर्गादास हो?

दुर्गादास-हाँ बेगम साहबा!

गुलनार-मेरे यहाँ आपका विचार होगा।

गुलनार-कहाँ किस के आगे?

रानी-मेरे यहाँ, मेरे आगे। बात जरा रूखी और बेढंगी जान पड़ती होगी, क्यों? क्या कीजिएगा चक्र घूम गया है बेगम! क्या! दुर्गादास की ओर इतना गौर आप क्यों कर रही हैं? सोचती होंगी, इस काफिर की इतनी मजाल कि आप को कैद कर लावे! यही सोचती है, क्यों न? अब आप कौन-सी सजा पसन्द करती हैं?

गुलनार-मैं तुम्हारे यहाँ कैद हूँ; जो जी चाहे करो।

रानी-जो जी चाहे वही करूँ? बेगम साहबा, मेरे मन की सजा तो तुम्हारे लिए बहुत ही कठिन होगी। मेरी जो इच्छा है, वह दण्ड तुम्हारे लिए असह्य होगा। तुम उसे सह न सकोगी। वह बडी ही कडी सजा है। उसके आगे नरक की ज्वाला वसन्त-वायु के समान है। सैकडों बिच्छुओं के काटने की जलन भी उसके आगे झरने के पानी के समान शीतल है। मेरा जो जी चाहे? मेरा क्या जी चाहता है, जानती

हो बेगम !-खैर जाने दो-यदि तुम मुझे पकड़ मँगवातीं, तो क्या करती बेगम साहबा ?

गुलनार-क्या करती ? तुम को अपने पैरों की धोवन पिलाती। उस के बाद मरवा डालती।

रानी-अभी तक तेज नहीं गया ! विष का दाँत उखड़ गया परन्तु फुफकार कम नहीं हुई ! बेगम साहबा, खेद है, तुम्हारी आशा पूरी नहीं हुई। आज मुझे तुम्हारे आगे इस तरह खड़ा होना चाहिए था, क्यों ! पर क्या किया जाय, तुमको ही मेरे आगे इस तरह खड़ा होना पड़ा। देखो। गुलनार ! सुनो बादशाह की बेगम ! आज तुम मेरी मुठ्टी में हो। चाहूँ तो मैं तुम को पैर की धोवन भी पिला सकती हूँ। किन्तु मैं वह न करूँगी। मैं तुम्हें छोड़ देती हूँ। सेनापति ! इन को बाडशाह के पास पहुँचा आओ। (गुलनार से) खडी हुई हो ! विस्मय हुआ ! राजपूतों का यही बदला है।

(यवनिका पतन)

१—चरित्र पालन

श्रीयुत बालकृष्ण भट्ट

चरित्र में कहीं पर किसी तरह का दाग न लगने पावे इस बात की चौकसी का नाम चरित्र-पालन है। हमारे लिए चरित्र-पालन की आवश्यकता इसलिए मालूम होती है कि चरित्र को यदि हम सुधारने की फिकिर न रक्खें तो उसे बिगड़ते देर नहीं लगती, जैसे उर्वरा फलवन्त धरती में लम्बी-लम्बी घास और कटीले पेड़ आपसे आप उग आते हैं और अन्न आदि के उपकारी पौधे बडे यत्न व परिश्रम के उपरान्त उगते हैं। सच तो यों है कि त्रिगुणात्मक-प्रकृति ने चरित्र में विकार पैदा कर देनेवाले, इतने तरह के प्रलोभन संसार में उपजा दिये हैं, जिनसे आकर्षित हो मनुष्य बात की बात में ऐसा बिगड़ जा सकता है कि फिर यावज्जीवन किसी काम का नहीं रहता। महल के बनाने में कितना यत्न और परिश्रम करना पड़ता है पर जब वह बनकर तैयार हो जाता है तो उसे ढहाते देर नहीं लगती। इसी बात पर लक्ष्य कर कवि-शिरोमणि कालिदास ने कहा है—

"जो बातें विकार पैदा करने वाली हैं उनके होते हुए भी जिनके मन में विकार न पैदा हो, वे ही धीर हैं*।" महाकवि भारवि ने भी कहा है:—

"निर्मल प्रकृतिवालों में काल की कुटिलता के कारण जो

---

* "विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि स एव धीराः।"

विकार पैदा होते हैं, वे चिरस्थायी नहीं रहते। १ चरित्र-रक्षा एक प्रकार की सन्दली ज़मीन है जिस पर यश-सौरभ, इत्र के समान बनाये जा सकते हैं। अर्थात् जैसा गन्धी सन्दल का पुट देकर हर किस्म का इत्र उसमें से तैयार करता है वैसा ही चरित्र जब आदमी का शुद्ध है तो वह हर तरह की योग्यता प्राप्त कर सकता है। शुद्ध-चरित्रवाला मनुष्य सब जगह प्रतिष्ठा पाता है और वह जिस काम में सन्नद्ध होता है उसी में पूर्ण योग्यता को पहुंच हर तरह सरसब्ज़ होता है। यथा—

"मैला कपड़ा पहने हुआ मनुष्य जहाँ चाहता है, वहाँ बैठ जाता है, कपडों में दाग़ लग जाने का ख़याल उस आदमी को बिलकुल नहीं रहता। उसी तरह चलित-वृत्त अर्थात् जिसके चाल-चलन में दाग़ लग गया है वह फिर बाकी अपने और चरित्रों को भी नहीं बचा सकता, वरन् वह नित्य-नित्य बिगड़ता जाता है।" * मन, जिव्हा और हाथ का निग्रह चरित्र-पालन का मुख्य अंग है। जिन्होंने मन को कुपथ पर जाने से रोका है, जीभ को दूसरे की चुगली-चबाई से रोका है और हाथ को दूसरे की वस्तु चुराने से या बेईमानी से ले लेने में रोक रक्खा है, वही चरित्र-पालन में उदाहरण दूसरों के लिए हो सकता है। ऐसा मनुष्य कसौटी में कसे जाने पर खरे से खरा निकलेगा।

कुलीन समझदार साक्षर के लिये चरित्र में दाग लगना ऐसी ही करी बात है कि उसे अपना जीवन भी बोझ मालूम होने लगता है। किसी कवि ने कहा है कि--" विंध्य पहाड़ के बन में भूखा प्यासा ही मर जाना अच्छा, तिनकों से ढके, सर्पों से भरे कुएँ में गिर कर

---

१ " विक्रिया न खलु कालदोषजा
निर्मल-प्रकृतिषु स्थिरोदया॥"

* यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते।
एवं चलितवृत्तस्तु, वृत्तशेषं न रक्षति॥

प्राण दे देना श्रेष्ठ, पानी के भँवर में डूब कर विला जाना उत्तम है, पर शिष्ट पढे लिखे मनुष्य का चरित्र से च्युत हो जाना अच्छा नहीं।" ※

रुपया पैसा हाथ का मैल है, आता जाता रहता है; किन्तु बात गई बात फिर नहीं बनती, इसीलिए धन का दरिद्र, यदि वह सुचरित्र में आढ्य हो तो दरिद्र नहीं कहा जा सकता। जिनके आँख का पानी ढरक गया है, उनको चरित्र-पालन कोई बडी बात नहीं है और न इसकी कुछ क़दर उन्हें है, किन्तु जो चरित्र को सबसे बड़ा धन माने हुए है वे अत्यन्त संयम के साथ बडी सावधानी से संसार में निबाहते हैं। यावत् धर्म, कर्म और परमार्थ साधन सब का निचोड़ वे इसी को मानते हैं। ऐसे लोग जन-समाज में बहुत कम पाये जाते हैं, हज़ारों में कहीं एक ऐसे होते हैं और ऐसे ही लोग समाज के अगुवा, राह दिखलाने वाले, आचार्य, गुरु, रसूल या पैगम्बर हुए हैं और आप्त तथा शिष्ट माने गये हैं। उनके एक-एक शब्द जो मुख से निकलते हैं तथा उनका उठना-बैठना, चलना-फिरना, अलग-अलग चरित्र-पालन में उदाहरण होता है। जो प्रतिष्ठा बडे से बडे राजाधिराज सम्राट् बादशाह शाहंशाह को दुर्लभ है, वह चरित्रवान् को सुलभ है और यह प्रतिष्ठा चरित्र-पालन वाले को सहज ही मिल गई हो सो नहीं, वरन् सच कहिये तो यह असिधारा-व्रत है, संसार के अनेक सुखों को लात मार बडे क्लेश उठाने के उपरान्त मनुष्य इसमें पक्का हो सकता है।

चरित्रमे बहुत मिलती हुई दूसरी बात शील है। शील का चरित्र ही में अन्तर्भाव हो सकता है। चरित्र-पालन में चतुर, शील-संरक्षण में भी प्रवीण हो सकेगा किन्तु शील-सरक्षण में विचक्षण मनुष्य चरित्र-पालन में प्रवीण नहीं हो सकता। अँगरेजी में शील के लिये

※ वरं विन्ध्याटव्यामनशतृषार्तस्य मरणम्,
वरं सर्पाकीर्णे तृणपिहितकूपे निपतनम्।
वरं गर्तावर्ते गहनजलमध्ये विलयनम्,
न शीलाद्विभ्रंशो भवतु कुलजस्य श्रुतवतः॥

आज दिन हमारे सिरधरों का ही सिर नहीं फिर गया है, आगे चलने वाले भी आग लगा रहे हैं, और भगवाँ पहनने वाले भी भाँग खाये बैठे हैं। जिनको वीर होने का दावा है, वे भाइयों की मूछे उखाड़ कर मूंछ मरोड़ रहे हैं, दूसरों का घर मूस कर अपना घर भर रहे हैं, औरों के लहू से हाथ रंग कर अपना हाथ गरम कर रहे हैं, सगों का पेट काट कर अपना पेट पाल रहे हैं, और बेबसों के घर को जला कर अपने घर में घी के दिये बाल रहे हैं। पूंजी वालों का पेट दिन-दिन मोटा हो रहा है, पर किसी सटे पेट वाले को देखते ही उनकी आँख पर पट्टी बँध जाती हैं। संडे-मुसंडे डंडे के बल माल भले ही चाब लें, पर भूख से जिनकी आँखें नाच रही हैं, उनको वे कानी कौडी भी देने के रवादार नहीं। जो हमारा मुंह देखकर जीते हैं, हम उन्हीं को निगल रहे हैं, और जो हमारे भरोसे पर पाँव फैला कर सोते हैं, हम उन्हीं की आँखे बन्द करके लूट रहे हैं। हमीं में डूब कर पानी पीने वाले हैं, आँख में उँगली करने वाले हैं, खडे बाल निगलने वाले हैं, आग लगा कर पानी को दौड़ाने वाले हैं, रँगे सियार हैं, भीगी बिल्ली और काठ के उल्लू हैं।

आज हमारे घरों में फूट पाँव तोड़कर बैठी है, बैर अकड़ा हुआ खड़ा है, अनबन की बन आई है और रगडे-झगडे गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। हमसे लम्बी-लम्बी बातें सुन लो, लम्बी डींगें भरने की कहानियाँ कहलवा लो, लेकिन लम्बी तान कर सोना ही हमें पसन्द है। आँख होते हमें सूझता नहीं, कान होते हम सुनते नहीं, हाथ होते हम बेहाथ हैं, और पांव होते बेपाँव। समझ चल बसी, विचारों का दिवाला निकल गया, आस पर ओस पड़ गई, सूझ को पाला मार गया, मगर कान पर जूं तक नहीं रेंगती। दूसरे धूल में फूल लगाते हैं, हमें फूल में भी धूल ही हाथ आती है। लोग काँटों में फूल चुनते हैं, हम काँटों में उलझ-उलझ मरते हैं। आबरू उतर गई, पत-पानी चला गया, बड़ाई धूल में मिल गई, मगर हम धूल फाँकने में ही मस्त हैं।

हम आसमान के तारे तोड़ना चाहते हैं, मगर, काम आँखों के तारे भी नहीं देते। हम पर लगा कर उड़ना चाहते हैं, मगर उठाने से पाँव भी नहीं उठते। हम पालिसी पर पालिश करके उसके रंग को छिपाना चाहते हैं, पर हमारी यह पालिसी हमारे बने हुए रंग को बदरंग कर देती है। हम राग अलापते हैं मेल जोल का, मगर न जाने कहाँ का खटराग पेट में भरा पड़ा है। हम जाति–जाति को मिलाते चलते हैं, मगर तब अछूतों से आँख मिलाने को भी नहीं। हम जातिहित की तानें सुनाने के लिए सामने आते हैं, मगर तान दे-दे कलेजा छलनी बना देते हैं। हम कुल हिन्दू-जाति को एक रंग में रंगना चाहते हैं, मगर जाति जाति के अपनी-अपनी डफली और अपने अपने राग ने रही-सही एकता को भी धता बता दिया है। हम चाहते हैं देश को उठाना, पर आप मुँह के बल गिर पड़ते हैं। हमें देश की दशा सुधारने की धुन है, पर आप सुधारने पर भी नहीं सुधरते। हम चाहते हैं जाति की कसर निकालना, मगर हमारे जी की कसर निकाले भी नहीं निकलती। हम जाति को ऊंचा ऊठाना चाहते हैं, पर हमारी आँख ऊँची होती ही नहीं। हम चाहते हैं जाति को जिलाना, मगर हमें मर मिटना आता ही नहीं।

हमारी जाति अपनी भूलभुलैयाँ में बेतरह फँसी है, इससे हमारा जी दुखी है, हमारा कलेजा चोट खा रहा है, दिल में फफोले पड़ रहे हैं। जितनी ही जल्द हमारी आँखे खुलें, उतना ही अच्छा, हमें उनका जी दुखाना, उन्हें कोसना, उन्हें बनाना, उन्हें खिझाना, उनकी उमंगों को मटियामेट करना पसन्द नहीं, अपने हाथ से अपने पाँव में कुल्हाडी कौन मारेगा, अपनी उँगलियों से अपनी आँखों को कौन कुचलेगा? मगर अपनी बुराइयों, कमजोरियों, भूल-चूकों, ऐबों लापर-वाहियों और नासमझियों पर आँख डालनी पडेगी, बिना इसके निर्वाह नहीं।

११– अंगुलिमाल डाकू

बौद्ध कथाओं से

प्रसेनजित् के राज्य में चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था। नगर उजड़ गये थे, गाँव लुट गये थे न किसी के मन में शान्ति, और न किसी के मन में संतोष। जिसको देखिए वही भय से समाकुल। बच्चे, जवान-बूढ़े सभी का कलेजा अंगुलिमाल डाकू के नाम ही को सुनकर पत्ते की भाँति काँप उठता था।

उस समय गौतम श्रावस्ती के जेतवन में निवास कर रहे थे। गौतम के कानों में भी अंगुलिमाल के अत्याचारों की आवाज़ पडी। बस फिर क्या था। खूँखार सिंह को भी तोते की तरह मीठी बोली बोलना सिखा देनेवाले योगी, गौतम पात्र और चीवर लेकर आश्रम से निकल पडे।

मार्ग में चरवाहों, किसानों और राहगीरों ने देखा–श्रमण गौतम उसी ओर अकेले बढे जा रहे हैं, जहाँ दुर्दान्त अंगुलिमाल निवास करता है।

सबों का कलेजा जैसे ओंठों पर आ गया। एक सूखी हुई हड्डियों का मनुष्यों के मिले हुए दल की भी जाने की हिम्मत नहीं पड़ती। शायद श्रमण गौतम को डाकू के दुर्दान्त प्रताप की ख़बर नहीं। सबों ने बारी–बारी से गौतम को टोककर कहा– न जाओ भाई, इस रास्ते से। आगे अंगुलिमाल डाकू का निवासस्थान है। वह बडे–बडे शस्त्र-धारियों को भी केवल क्षणमात्र में अपने काबू में कर लेता है। उसके सामने जाते हुए बडे–बडे सूरमा सिपाही तक काँपा करते हैं।

पर गौतम कब मानने लगे? वे बराबर उसी ओर आगे बढ़ते ही गये।

जंगल के सघन भाग में अंगुलिमाल का स्थान है! कोई वहाँ जाने का नाम भी नहीं लेता। एक दुबले–पतले संन्यासी को अपने स्थान को

अपने स्थान की ओर आते हुए देखकर अंगुलिमाल के विस्मय का ठिकाना न रहा। साथ ही उसके क्रोध की आग भी भड़क उठी। एक दुबले-पतले, निर्जीव संन्यासी का इतना साहस! वह अकेला इठलाता हुआ अंगुलिमाल के स्थान की राह से आगे निकल जाए। नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। मैं अभी उसे एक क्षण में मारकर भूमि पर गिरा दूँगा।

अंगुलिमाल धनुष पर तीर चढ़ाकर गौतम के पीछे चल पड़ा। उसे क्या मालूम था कि मेरे इस धनुष-बाण से गौतम के योग-अस्त्र कहीं अधिक तीखे हैं। गौतम ने अंगुलिमाल को धनुष पर बाण चढ़ाए हुए अपने पीछे आते देखा। बस, योग का एक अस्त्र फेंका और अंगुलीमाल की गति रुक गई।

अंगुलिमाल घबड़ाया-उसे विस्मय हुआ। ओह, यह क्या? मैं इतनी तेजी के साथ दौड़ने पर भी उस संन्यासी तक क्यों नहीं पहुँच रहा हूँ? आज मुझे क्या हो गया है? दूसरे दिन तो मैं तेज़ दौड़नेवाले हाथियों को भी क्षणमात्र में अपना शिकार बनाता था।

अंगुलिमाल अपनी शक्ति का हर एक तरह से प्रगोग करके लाचार हो गया। अब उससे न रहा गया। उसने गौतम को पुकारकर कहा-संन्यासी, खड़ा रह।

'मैं तो खड़ा हूँ अंगुलिमाल!' गौतम ने उत्तर दिया-'और तू चल रहा है। फिर तू मुझ तक क्यों नहीं पहुँच रहा है? कैसे आश्चर्य की बात है!'

अंगुलिमाल ने गौतम को पुकारकर कहा-संन्यासी खड़ा रह। 'मैं तो खड़ा हूँ अंगुलिमाल!'-गौतम ने उत्तर दिया।

अंगुलिमाल चौंका-उसे विस्मय हुआ। संन्यासी तो झूठ नहीं बोलते' मगर यह झूठ बोल रहा है। आगे दौड़ा जा रहा है ओर कहता है, मैं तो खड़ा हूँ। अंगुलिमाल ने विस्मय के स्वर में कहा-संन्यासी, तू झूठ बोल रहा है। तू तो आगे भागा जा रहा है और फिर कहता है मैं खड़ा हूँ।

'हाँ, मैं खड़ा हूँ अंगुलिमाल !' गौतम ने उत्तर दिया-'तुम्हारी आँखें हिंसा, लोभ, पाप और असत्य की भावनाओं से भरी हुई हैं। इसलिए तुम्हें सच्ची बात भी झूठी मालूम होती है।'

गौतम की इन बात का डाकू के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने धनुष-बाण नाले में फेंक दिया और उसके चरणों की वन्दना करके कहने लगा-भगवान् ! मैं आपकी शरण में हूँ। मेरा उद्धार कीजिए।

गौतम ने उसके सिर पर अपना कृपा का हाथ रखकर उसे भिक्षु बना लिया। इधर गौतम अंगुलिमाल को भिक्षु-रूप में लेकर श्रावस्ती लौटे और इधर प्रसेनजित् के राजनिवासियों ने राजधानी में एकत्रित होकर यह कोलाहल मचाया कि अंगुलिमाल डाकू के उद्दण्ड प्रताप से प्रजा मरी जा रही है। अनेक नगर बरबाद हो गये हैं। सैकडों गाँव लूट लिये गये हैं। करोडों मनुष्यों की जानें तलवार के घाट उतार डाली गई हैं। अब हम लोग कहाँ जायँ, किसकी शरण ढूंढें ! उसने अपने राक्षसी काण्डों से चारों ओर कुहराम मचा दिया है।

प्रजा की यह पुकार सुनकर प्रसेनजित् के कोप की सीमा न रही। वह पाँच सौ घुड़सवारों के साथ अंगुलिमाल के दमन के लिए निकल पड़ा। इस समय भिक्षु रूप अंगुलिमाल के साथ गौतम श्रावस्ती के जेतवन में ठहरे हुए थे। प्रसेनजित् ने उसी बगीचे में पहुँचकर डेरा डाला।

गौतम ने प्रसेनजित् को पांच सौ घुड़सवारों के साथ यात्रा के लिए निकला हुआ देखकर कहा-राजन् ! आप इस वेश में कहाँ जा रहे हैं ? किसी प्रचंड शत्रु ने राज्य की सीमा पर आक्रमण तो नहीं किया है ?

'नहीं भगवन्।'-प्रसेनजित् ने उत्तर दिया-किसी शत्रु नें आक्रमण नहीं किया है, बल्कि अंगुलिमाल नामक एक डाकू के अत्याचारों से इस समय राज्य में चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है। इस समय उसी का सर्वनाश करने के लिए अपने घर से निकला हुआ हूँ।'

गौतम मुस्कुराये। कुछ देर तक चुप रहे। फिर बोल उठें-राजन् यदि अंगुलिमाल आपके सामने बौद्ध भिक्षु के रूप में उपस्थित हो, तो आप उसके साथ कैसा व्यवहार करेंगे ?

'मैं उस समय उसकी पूजा करूँगा भगवान्'-प्रसेनजित् ने उत्तर दिया-'मैं उसे घर पर सप्रेम निमन्त्रित कर भोजन कराऊँगा? मगर विश्वास नहीं होता कि अंगुलिमाल जैसा दुर्दान्त और हिंसक मनुष्य भी कभी बौद्ध-भिक्षु हो सकता है।

'संसार में कोई काम असम्भव नहीं राजन्!'-गौतम ने कहा-देखो, वह भिक्षु-वेश में बैठा हुआ नया श्रमण अंगुलिमाल ही है।

राजा के आश्चर्य की सीमा न रही। उसने भिक्षु के पास जाकर कहा-महाभाग! क्या तुम्ही अंगुलिमाल हो?

'हाँ राजन्?-'भिक्षु ने उत्तर दिय-'मैं ही हूँ डाकू अंगुलिमाल'

राजा प्रसेनजित् श्रद्धापूर्वक अंगुलिमाल की परिक्रमा कर राजधानी लौट गया।

कुछ ही दिन बीत पाये थे। एक दिन अंगुलिमाल पात्र और चीवर लेकर भिक्षा-वृत्ति के लिए श्रावस्ती में गया। वह नगर में घूम रहा था, सहसा एक ककंड़ आकर उसके सिर में लगा। सिर फट गया, रक्त की धारा-सी बह चली। अभी उस चोट को अंगुलिमाल संभाल भी न पाया था कि दूसरी ओर से एक पत्थरका टुकड़ा सनसनाता हुआ आया और उसके सिर को फोड़कर भूमि पर गिर पड़ा। अंगुलिमाल लहू से सन गया। उसके सारे कपडे रक्त से लाल हो गये। जिसने उसे इस वेश में देखा उसी ने कहा-आह! बडी चोट लगी। पर अंगुलिमाल के मुख से आह और कराह का एक शब्द भी न निकला।

रक्त में सना, अंगुलिमाल, हाथ में टूटा हुआ पात्र लेकर गौतम के पास पहुंचा। गौतम ने उसे देखकर कहा-भिक्षु! आज तुम्हारा प्रायश्चित्त पूरा हुआ।

'प्रायश्चित्त पूरा हुआ'-गौतम के मुख से यह शब्द सुनकर अंगुलिमाल ऐसा प्रफुल्लित हुआ, मानो उसके हाथों में किसी ने मुक्ति की माला रख दी हो!

१२--सभ्य बनने के प्रयत्न में

महात्मा गान्धी

अब तक मेरे विषय में मित्र की चिंता दूर नहीं हुई थी। उन्होंने प्रेमवश यह मान लिया था कि मांसाहार न करनेसे मैं कमजोर हो जाऊंगा; इतना ही नहीं बल्कि 'भौंदू' रह जाऊंगा। क्योंकि मांसाहार न करने से अंग्रेज-समाज में मिल-जुल न सकूंगा। मेरे अन्नाहार-संबंधी पुस्तकें पढ़ने का उनको पता था। उन्हें शंका हुई कि इन विषयों को पढ़कर मैं सनक जाऊंगा और प्रयोगोंमें मेरा जन्म व्यर्थ जायगा। मैं कर्तव्य-च्युत हो जाऊंगा और एक पढ़-लिखा मूर्ख ही रहूंगा।

पर अब मेरे मनमें यह आया कि मुझे उनकी परेशानी दूर कर देनी चाहिए। मैंने निश्चय किया कि मैं अपने को जंगली न कहलाने दूंगा, सभ्यों के लक्षण सीखूंगा और दूसरी तरहसे समाज में सम्मिलित होनेके योग्य बनकर अपनी अन्नाहारकी विचित्रता पर पर्दा डालूंगा। इसलिए अब मैंने अंग्रेजी 'सभ्यता' सीखनेका मार्ग पकड़ा।

मेरे कपडे थे तो विलायती, परन्तु बम्बई-काटके थे। वे उच्च अंग्रेज़-समाज में न फबेंगे इस विचारसे 'आर्मी और नेवी' स्टोरमें दूसरे कपडे बनवाये। उन्नीस शिलिंग की 'चिम' की हैट (टोपी) ली। इससे भी संतोष न हुआ तो बांड स्ट्रीटमें, जहाँ शौकीन लोगों के कपडे सिलते थे, दस पौंड को दियासलाई दिखाकर शाम को पहनने के कपडे बनवाये। सीधे और शाहदिल बडे भाईसे खास तौरपर दोनों जेबों में लटकाई जानेवाली असली सोने की चैन मंगवाई। वह भी आई। तैयार बंधी टाई पहनने का रिवाज न था। इसलिए टाई बांधने की कला सीखी। देशमें तो आइना सिर्फ हजामतके दिन ही देखनेका काम पड़ता था;

पर यहां तो बडे आइने के सामने खडे रहकर टाई ठीक-ठीक बांधनेमें और बालकी पटिया पारने और मांग काढ़ने में दसेक मिनट बरबाद होते। फिर मेरे बाल मुलायम न थे। उन्हें ठीक-ठीक संवारे रखनेके लिए ब्रुशके साथ नित्य लड़ाई होती, और टोपी पहनते और उतारते समय हाथ तो मानो मांग संवारने के लिए सिरपर पहुंचते ही रहते। इसके सिवा जब कभी सभ्य समाज में बैठता तो मांगपर हाथ फेरकर बालों को दुरुस्त रखने की सभ्य क्रिया होती रहती थी।

परन्तु इतनी टीप-टाप ही बस न थी। अकेली सभ्य पोशाक से थोडे ही कोई सभ्य हो जाता है! इसलिए सभ्यता की और भी कितनी ही ऊपरी बातें मालूम कर ली थीं। अब उनमें कुछ प्रवीणता प्राप्त करनी थी। सभ्य पुरुष को नाचना जानना चाहिए, फ्रेंच भाषा अच्छी आनी चाहिए; क्योंकि फ्रेंच एक तो इंग्लैंडके पडौसी फ़ास की भाषा थी। दूसरे सारे यूरोप की राष्ट्रभाषा भी थी। फिर मुझे यूरोप भ्रमण करने-की भी इच्छा थी। इसके सिवा सभ्य पुरुषको लच्छेदार व्याख्यान देना भी आना चाहिए। मैंने नाचना सीख लेने का निश्चय किया और क्लासमें भरती हुआ। एक तिमाही के तीनैक पौंड फीस के दिये। कोई तीन सप्ताह में पांच-छः पाठ पढे होंगे, ठीक तालपर पांव नहीं पड़ते थे। पियानो बजता था, पर यह न जान पड़ता था कि यह क्या कह रहा है। 'एक, दो, तीन' का क्रम चलता, पर इनके बीचका अंतर तो उस बाजे से ही मालूम होता था, जो मेरे लिए अगम्य था। तो फिर? फिर तो बाबाजी की बिल्लीवाली बात! चूहों को भगाने के लिए बिल्ली, और बिल्ली के लिए गाय, होते-होते बाबाजी का परिवार बढ़ा। सोचा, वायो-लिन बजाना सीख लूं तो सुर और ताल का ज्ञान हो जायगा। तीन पौंड वायोलिन खरीदनेमें बिगाडे और उसे सीखने के लिए भी कुछ दक्षिणा दी। भाषण–कला सीखनेके लिए तीसरे उस्तादका घर खोजा। उसे भी एक गिन्नी की भेंट तो चढ़ानी ही पडी। उसकी प्रेरणा से 'बेल का स्टेंडर्ड एलोक्युशनिस्ट' खरीदा। पिट के भाषण से श्रीगणेश हुआ।

पर इन बेल साहबने मेरे कान में 'बेल' (घंटी) बजाई। में जागा। 'मुझे कहां इंग्लैंड में जिंदगी बितानी है? लच्छेदार भाषण देना सीखकर भी क्या करूंगा? नाच–नाचकर में सभ्य कैसे बनूंगा? वायोलिन तो देशमें भी सीखा जा सकता है। में विद्यार्थी हूँ। मुझे तो विद्या–धनके संग्रह में लगना चाहिए; मुझे अपने धंधे से संबंध रखनेवाली तैयारी करनी चाहिए। अपने सदाचार से में सभ्य समझा जा सकूं तो अलबत्ता ठीक है, नहीं तो मुझे यह लोभ छोड़ देना चाहिए।"

इन धुनमें उपर्युक्त आशय का पत्र मैंने भाषण–शिक्षक को लिख भेजा। उस से मैंने दो या तीन पाठ ही लिये थे। नृत्य-शिक्षिका को भी वैसा ही पत्र लिख भेजा। वायोलिन-शिक्षकाके यहां वायोलिन लेकर पहुँचा और उसे कह आया कि जो दाम मिले लेकर बेच दो। उस से कुछ मित्रता-सी हो गई थी, इसलिए उस से मैंने मोह का भी जि़क्र कर दिया–नाच इत्यादि जंजाल से छूट जाने की बात उसे पसंद आई।

सभ्य बनने की मेरी यह सनक तो कोई तीन महीने चली होगी, किंतु कपडों की तड़क-भड़क बरसों तक चलती रही। पर अब में विद्यार्थी बन गया था।

१३—उस की माँ

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

दोपहर को ज़रा आराम करके उठा था। अपने पढ़ने-लिखने के कमरे में खड़ा-खड़ा धीरे-धीरे सिगार पी रहा था और बडे बडे अलमारों में सजे पुस्तकालय की ओर निहार रहा था। किसी महान् लेखक की कोई महान् कृति उनमें से निकालकर देखने की बात सोच रहा था। मगर, पुस्तकालय के एक सिरे से लेकर दूसरे तक मुझे महान् ही महान् नज़र आये। कहीं गेटे, कहीं रूसो, कहीं मेज़िनी, कहीं निट्शे, कहीं शेक्सपियर, कहीं टॉल्स्टाय, कहीं ह्यूगो, कहीं मोपासाँ, कहीं डिकिन्स, स्पेन्सर, मेकाले, मिल्टन, मोलियर—उफ़! इधर से उधर तक एक से एक महान् ही तो थे। आख़िर मैं किसके साथ चंद मिनट मन-बहलाव करूँ, यह निश्चय ही न हो सका। महानों का नाम ही पढ़ते-पढ़ते परेशान-सा हो गया।

इतने में मोटर का भों-भों सुनायी पड़ा। खिड़की से झाँका तो सुरमई रंग की कोई 'फ़िएट' गाडी दिखायी पडी। मैं सोचने लगा—शायद कोई मित्र पधारे हैं, अच्छा ही है। महानों से जान बची।

जब नौकर ने सलाम कर आनेवाले का कार्ड दिया, तब मैं कुछ घबराया। उसपर शहर के पुलिस सुपरिंटेण्डेंट का नाम छपा था। ऐसे बेवक्त यह कैसे आये ?

पुलिस-पति भीतर आये। मैंने हाथ मिलाकर एक चक्कर खानेवाली गद्दीदार कुर्सी पर उन्हें आसन दिया। वह व्यापारिक मुस्कुराहट से लैस होकर बोले—

'आज्ञा हो।' मैंने भी नम्रता से कहा।

उन्होंने पाकेट से डायरी निकाली, डायरी से एक तस्वीर– 'देखिये इसे। ज़रा बताइये तो, आप पहचानते हैं इसको ?'

'हाँ, पहचानता हूँ।' ज़रा सहमते हुए मैंने बताया।

'इसके बारे में मुझे आपसे कुछ कहना है।'

'पूछिये।'

'इसका नाम क्या है ?'

'लाल। मैं इसी नाम से बचपन ही इसे पुकारता आ रहा हूँ। मगर, यह पुकारने का नाम है। एक नाम कोई और है, सो मुझे स्मरण नहीं।'

'कहाँ रहता है यह ?' सुपरिंटेण्डेंट ने पुलिस की धूर्त दृष्टि से मेरी ओर देखकर पूछा।

'मेरे बंगले के ठीक सामने, एक दोमंज़िला कच्चा-पक्का घर है, उसीमें वह रहता है। वह है और उसकी बूढी माँ।'

'बूढी का नाम क्या है ?'

'जानकी।'

'और कोई नहीं है क्या इसके परिवार में ? दोनों का पालन-पोषण कौन करता है ?'

'सात-आठ वर्ष हुए, लाल के पिता का देहान्त हो गया। अब उस परिवार में वह और उसकी माता ही बचे हैं। उसका पिता जब तक जीवित रहा, बराबर मेरी ज़मीनदारी का मुख्य मैनेजर रहा। उसका नाम रामनाथ था। वही मेरे पास कुछ हज़ार रुपए जमा कर गया था, जिससे अब तक उनका खरचा-वरचा चल रहा है। लड़का कालेज में पढ़ रहा है। जानकी को आशा है, वह साल दो साल बाद कमाने और परिवार को सँभालने लगेगा। मगर,—क्षमा कीजिये, क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि आप इसके बारे में क्यों इतनी पूछताछ कर रहे हैं !'

'यह तो मैं आपको नहीं बता सकता, मगर इतना आप समझ लें, यह सरकारी काम है। इसीलिए मैंने आपको इतनी तकलीफ़ दी है।'

'अजी, इसमें तकलीफ़ की क्या बात है? हम तो सात पुश्त से सरकार के फ़रमाँबरदार हैं। और कुछ आज्ञा......'

'एक बात और,' पुलिस-पति ने गंभीरता से, धीरे से कहा— 'मैं मित्रता से आपसे निवेदन करता हूँ। आप इस परिवार से ज़रा सावधान और दूर रहें। फ़िलहाल इससे अधिक मुझे कुछ कहना नहीं।'

2

'लाल की माँ!' एक दिन जानकी को बुलाकर मैं ने समझाया— 'तुम्हारा लाल आजकल क्या पाजीपन करता है? तुम उसे केवल प्यार ही करती हो न? हूँ; भोगोगी।'

'क्या है बाबू?' उसने कहा—'लाल क्या करता है? मैं तो उसे कोई भी बुरा काम करते नहीं देखती।'

'बिना किये ही तो सरकार किसी के पीछे नहीं पड़ती। हाँ, लाल की माँ, बडी धर्मात्मा, विवेकी और न्यायी सरकार है यह। ज़रूर तुम्हारा लाल कुछ करता होगा।'

'माँ! माँ!! पुकारता हुआ उसी समय लाल भी आया। लंबा सुडौल, सुंदर, तेजस्वी।

'माँ!' उसने मुझे नमस्कार कर जानकी से कहा—'तू यहाँ भाग आयी है! चल तो, मेरे कई सहपाठी वहाँ खडे हैं। उन्हें चटपट कुछ जलपान करा दे। फिर हम घूमने जाएँगे।'

'अरे!' जानकी के चेहरे की झुर्रियाँ चमकने लगीं, काँपने लगी, उसे देखकर—'तू आ गया लाल, चलती हूँ भैया। पर, देख तो तेरे चाचा क्या शिकायत कर रहे हैं। तू क्या पाजीपन करता है बेटा!'

'क्या है चाचा जी?' उसने सविनय, सुमधुर स्वर से मुझसे पूछा— 'मैंने क्या अपराध किया है?'

'मैं तुमसें नाराज़ हूँ लाल!' मैंने गंभीर स्वर में कहा।

'क्यों चाचा जी ! '

'तुम बहुत बुरे होते जा रहे हो, जो सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र करनेवालों के साथी हो। हाँ, हाँ—तुम हो। देखो लाल की माँ! इसके चेहरे रंग उड़ गया, यह सोच कर कि यह ख़बर मुझे कैसे मिली! '

सचमुच एक बार उसका खिला हुआ रंग ज़रा मुरझा गया, मेरी बातों से। पर तुरन्त ही वह सँभला।

'आपने ग़लत सुना, चाचा जी। मैं किसी षड्यन्त्र में नहीं। हाँ, मेरे विचार स्वतन्त्र अवश्य हैं। मैं ज़रूरत-बेज़रूरत जिस-जिसके आगे उबल अवश्य उठता हूँ, देश की दुरवस्था पर उबल उठता हूँ इस पशुहृदया परतन्त्रता पर। '

'तुम्हारी ही बात सही, तुम षड्यन्त्र में नहीं, विद्रोह में नहीं, पर यह बकबक क्यों ? इससे फ़ायदा ? तुम्हारी इस बकबक से न तो देश की दुर्दशा दूर होगी और न उसकी पराधीनता। तुम्हारा काम पढ़ना है—पढो। इसके बाद कर्म करना होगा, परिवार और देश की मर्यादा बचानी होगी। तुम पहले अपने घर का उद्धार तो कर लो, तब सरकार के सुधार का विचार करना। '

उसने नम्रता से कहा—'चाचा जी, क्षमा कीजिये। इस विषय में मैं आपसे विवाद करना नहीं चाहता।'

'चाहना होगा, विवाद करना होगा। मैं केवल चाचा जी नहीं, तुम्हारा बहुत कुछ हूँ। तुम्हें देखते ही मेरी आँखों के सामने रामनाथ नाचने लगते हैं। तुम्हारी बूढी माँ घूमने लगती हैं। भला मैं तुम्हें बेहाथ होने दे सकता हूँ ! इस भरोसे न रहना। '

'इस पराधीनता के विवाद में, चाचा जी, मैं और आप दो भिन्न सिरों पर हैं। आप कट्टर राजभक्त, मैं कट्टर राज-विद्रोही। आप पहली बात को उचित समझते हैं कुछ कारणों से, मैं दूसरी को, दूसरे कारणों से। आप अपना पथ छोड़ नहीं सकते—अपनी प्यारी कल्पनाओं के लिए। मैं अपना पथ नहीं छोड सकता। '

'तुम्हारी कल्पनाएँ क्या हैं ? सुनूँ तो ज़रा मैं भी, जान लूँ कि अब के लड़के कालेज की गर्दन तक पहुँचते-पहुँचते कैसे-कैसे हवाई किले उठाने के सपने देखने लगते हैं। ज़रा मैं भी सुनूँ बेटा !'

'मेरी कल्पना यह है कि जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र किसी अन्य व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के नाश पर जीता हो उसका सर्वनाश हो जाय।'

जानकी उठकर बाहर चली--'अरे, तू तो जमकर चाचा से जझने लगा। वहाँ चार बच्चे बेचारे दरवाजे पर खडे होंगे। लड़ तू, मैं जाती हूँ।' उसने मुझसे कहा--'समझा दो बाबू, मैं तो आप ही कुछ नहीं समझती, फिर इसे क्या समझाऊँगी ?' उसने फिर लाल की ओर देखा--'चाचा जो कहें, मान जा बेटा। यह तेरे भले ही की कहेंगें।'

वह बेचारी कमर झुकाये उस साठ बरस की वय में भी घूँघट सँभाले चली गयी। उस दिन उसने मेरी और लाल की बातों की गंभीरता नहीं समझी।

'मेरी कल्पना यह है कि' उत्तेजित स्वर से लाल ने कहा--'ऐसे दुष्ट, नाशक व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के सर्वनाश में मेरा भी हाथ हो।'

'तुम्हारे हाथ दुर्बल हैं; उनसे, जिनसे तुम पंजा लेने जा रहे हो, चरर-मरर हो उठेंगे; नष्ट हो जाएँगे।'

'चाचाजी, नष्ट हो जाना तो यहाँ का नियम है। जो सँवारा गया है वह बिगडेगा ही। हमें दुर्बलता के डर से अपना काम नहीं रोकना चाहिए। कर्म के समय हमारी भुजाएँ दुर्बल नहीं, भगवान् की सहस्र भुजाओं की सरीखी हैं।'

'तो, तुम क्या करना चाहते हो ?'

'जो भी मुझसे हो सकेगा, करूँगा।'

'षड्यन्त्र ?'

'ज़रूरत पडी तो ज़रूर...'

'विद्रोह ?'

'हाँ, अवश्य !'

'हत्या ?'

'हाँ-हाँ-हाँ।'

'बेटा, तुम्हारा माथा न जाने कौन किताब पढ़ते-पढ़ते बिगड़ रहा है। सावधान !'

3

मेरी धर्मपत्नी और लाल की माँ एक दिन बैठी हुई बातें कर रही थीं कि मैं पहुँच गया। कुछ पूछने के लिए कई दिनों से मैं उसकी तलाश में था।

'क्यों लाल की माँ ! लाल के साथ किसके लड़के आते हैं तुम्हारे घर में ?'

'मैं क्या जानूँ बाबू,' उसने सरलता से कहा—'मगर वे सभी मेरे लाल ही की तरह प्यारे मुझे दिखते हैं। सब लापरवाह। वे इतना हँसते, गाते और हो-हल्ला मचाते हैं कि मैं मुग्ध हो जाती हूँ।'

मैंने एक ठंढी साँस ली—'हूँ, ठीक कहती हो। वे बातें कैसी करते हैं ? कुछ समझ पाती हो ?'

'बाबू, वे लाल की बैठक में बैठते हैं। कभी-कभी जब मैं उन्हें कुछ खिलाने-पिलाने जाती हूँ, तब वे बडे प्रेम से मुझे 'माँ' कहते हैं। मेरी छाती फूल उठती है—मानों वे मेरे ही बच्चे हैं।'

'हूँ...' मैंने फिर साँस ली।

'एक लड़का उनमें बहुत ही हँसोड़ है। खूब तगड़ा और बलीं दिखता है। लाल कहता था, वह डंडा लड़ने में, दौड़ने में, घूंसेबाजी में, खाने में, छेड़खानी करने और हो-हो हा-हा कर हँसने में समूचे कालेज में फ़र्द है। उसी लड़के ने एक दिन, जब मैं उन्हें हलवा परस रही थी, मेरे मुँह की ओर देखकर कहा—'माँ! तू तो ठीक भारतमाता–सी लगती है। तू बूढी, वह बूढी। उसका उजला हिमालय है तेरे केश। हाँ, नक़्शे से साबित करता हूँ– तू भारतमाता है। सर तेरा हिमालय,

माथे की दोनों गहरी, बडी रेखाएँ गंगा और यमुना। यह नाक विन्ध्याचल, दाढी कन्याकुमारी तथा छोटी-बडी झुर्रियाँ-रेखाएँ भिन्न-भिन्न पहाड़ और नदियाँ हैं। ज़रा पास आ मेरे। तेरे केशों को पीछे से आगे बाएँ कन्धे पर लहरा दूँ। वह बर्मा बन जाएगा। बिना उसके भारतमाता का शृङ्गार शुद्ध न होगा।'

जानकी उस लड़के की बातें सोच गद्गद हो उठी, 'बाबू, ऐसा ढीठ लड़का। सारे बच्चे हँसते रहे और उसने मुझे पकड़, मेरे बालों को बाहर कर अपना बर्मा तैयार कर लिया। कहने लगा-देख, तेरा यह दाहिना कान 'कच्छ' की खाडी है-बम्बई के आगेवाली; और यह बायाँ बंगाल की खाडी। माँ! तू सीधा मुँह करके जरा खडी हो। मैं तेरी ठुड्ढी के नीचे, उससे दो अंगुल के फ़ासले पर हाथ जोड़कर घुटनों पर बैठता हूँ। दाढी तेरी कन्याकुमारी। हा हा-हा!-और मेरे जुडे, ज़रा तिरछे हाथ सिलोन-लंका। हा-हा-हा-हा!-बोलो, भारत-माता की जय!'

'सब लड़के ठहाका लगाकर हँसने लगे। वह घुटने टेककर, हाथ जोड़कर मेरे पाँव के पास बैठ गया। मैं हक्की-बक्की-सी हँसनेवालों का मुँह निहारने लगी। बाबू, सभी बच्चे मेरे 'लाल' हैं, सभी मुझे 'माँ' कहते हैं।'

उसकी सरलता मेरी आँखों में आँसू बनकर छा गयी। मैंने पूछा-'लाल की माँ! और भी वे कुछ बातें करते हैं? लड़ने की, झगड़ने की, गोला, गोली या बन्दूक की?'

'अरे बाबू,'-उसने मुस्कुराकर कहा-'वे सभी बातें करते हैं। उनकी बातों का कोई मतलब थोडे ही होता है? सब जवान हैं, लापरवाह हैं, जो मुँह में आता है, बकते हैं। कभी-कभी तो पागलोंकीसी बातें करते हैं। महीना-भर पहले एक दिन लड़के बहुत उत्तेजित थे। वे जब बैठक में बैठकर गलचौर करने लगते हैं, तब कभी-कभी उनका पागलपन सुनने के लोभ से, मैं दरवाजे से सट और छिपकर खडी हो जाती हूँ।

'न जाने कहाँ, लड़कों को सरकार पकड़ रही है। मालूम नहीं, पकड़ती भी है या वे यों ही गप हाँकते थे। मगर उस दिन वे यही बक रहे थे। कहते थे–पुलिसवाले केवल सन्देह पर भले आदमियों के बच्चों को त्रास देते हैं, मारते हैं, सताते हैं। यह अत्याचारी पुलिस की नीचता है। ऐसी नीच शासन-प्रणाली को स्वीकार करना अपने धर्म को, आत्मा को, परमात्मा को भुलाना है–धीरे-धीरे घुलाना, मिटाना है।

'एक ने उत्तेजित भाव से कहा—'अजी, ये परदेशी कौन लगते हैं हमारे, जो हमें बरबस राजभक्त बनाये रखने के लिए हमारी छाती पर तोप का मुँह लगाये अड़े और खड़े हैं? उफ! इस देश के लोगों की हिये की आँखें मुँद गयी हैं, तभी तो इतने जुल्मों पर भी आदमी आदमी से डरता है। ये लोग शरीर की रक्षा के लिए अपनी-अपनी आत्मा की चिता सँवारते फिरते हैं। नाश हो परतंत्रतावाद का!

'दूसरे ने कहा–लोग ज्ञानी न हो सकें, इसलिए इस सरकार ने हमारे पढ़ने-लिखने के साधनों को अज्ञान से भर रखा है। लोग वीर और स्वाधीन न हो सकें, इसलिए अपमानजनक और मनुष्यता नीति-मर्दक कानून गढ़े हैं। गरीबों को चूसकर, सेना के नाम पर पले हुए पशुओं को शराब से, कबाब से मोटा-ताज़ा रखती है, यह सरकार धीरे-धीरे जोंक की तरह हमारे देश का धर्म, प्राण और धन चूसती चली जा रही है; यह लूटक शासन-प्रणाली है। नाश हो इस प्रणाली का इस प्रणाली की तसवीर–सरकार का!

'तीसरा वही बँगड़ बोला–सबसे बुरी बात यह है, जो सरकार रोब से–'सत्तावनी' रोब से, धाक से धाँधली से, धुएँ से हमपर शासन करती है वह आँखें खोलते ही कुचल-कुचलकर हमें दब्बू कायर, हतवीर्य बनाती है। और किसलिए, जरा सोचें तो। मुट्ठी भर मनुष्यों को अरुण, वरुणा और कुबेर बनाए रखने के लिए मुट्ठी-भर मनचले सारे संसार की मनुष्यता की मिट्टी-पलीद करें, परमात्मा-प्रदत्त स्वाधीनता का संहार करें–छिः! नाश हो ऐसे मनचलों का!

'ऐसे ही अंटसंट ये बातूनी बका करते हैं बाबू। जभी चार छोकरे जुड़े, तभी यही चर्चा। लाल के साथियों का मिज़ाज भी, उसी-सा, अल्हड़ बिल्हड़ मुझे मालूम पड़ता है। ये लड़के ज्यों-ज्यों पढ़ते जा रहे हैं, त्यों-त्यों बकबक में बढ़ते भी जा रहे हैं।'

'यह बुरा है, लाल की माँ!' मैंने गहरी सांस ली।

4

ज़मींदारी के कुछ ज़रूरी काम से चार–पाँच दिनों के लिए बाहर गया था। लौटने पर बँगले में घुसने के पूर्व लाल के दरवाजे पर जो नज़र पडी तो वहाँ एक भयानक सन्नाटा-सा नज़र आया। जैसे घर उदास हो, रोता हो।

भीतर आने पर मेरी धर्मपत्नी मेरे सामने उदास-मुख खडी हो गयीं।

'तुमने सुना?'

'नहीं तो, कौन-सी बात?'

'लाल की माँ पर भयानक विपत्ति टूट पडी है।'

मैं कुछ-कुछ समझ गया; फिर भी विस्तृत विवरण जानने के लिए उत्सुक हो उठा–'क्या हुआ? जरा साफ़-साफ़ बताओ।'

'वही हुआ जिसका तुम्हें भय था। कल पुलिस की एक पलटन ने लाल का घर घेर लिया था। बारह घंटे तक तलाशी हुई! लाल, उसके बारह पन्द्रह साथी, सभी पकड़ लिये गये हैं। सभी लडकों के घरों की तलाशी हुई है। सबके घर से भयानक-भयानक चीजें निकली हैं।'

'लाल के यहाँ...?'

'उसके यहाँ भी दो पिस्तौल, बहुत–से कारतूस और पत्र पाये गये हैं। सुना है, उनपर हत्या, षड्यन्त्र, सरकारी राज्य उलटने की चेष्टा आदि अपराध लगाये गये हैं।'

'हूँ,' मैंने ठंढी साँस ली–'मैं तो महीनों से चिल्ला रहा था कि वह लौंडा धोखा देगा। अब यह बूढी बेचारी मरी। वह कहाँ है? तलाशी के बाद तुम्हारे पास आयी थी?'

'जानकी मेरे पास कहाँ आयी ? बुलवाने पर भी कल नकार गयी। नौकर से कहलाया—पराठे बना रही हूँ, हलुवा, तरकारी अभी बनाना है। नहीं तो ये अल्हड़ बच्चे हवालात में मुरझा न जाएँगे ? जेलवाले और उत्साही बच्चों की दुश्मन यह सरकार उन्हें भूखों मार डालेंगे, मगर मेरे जीते जी यह नहीं होने का।'

'वह पागल है, भोगेगी।' मैं दुख से टूटकर चारपाई पर भहर पड़ा। मुझे लाल के कर्मों पर घोर खेद हुआ।

इसके बाद, प्रायः एक वर्ष तक वह मुकदमा चला। कोई भी अदालत के कागज़ उलटकर देख सकता है। सी० आई० डी० ने और उसके प्रमुख सरकारी वकील ने उन लड़कों पर बड़े-बड़े दोषारोप किये। उन्होंने चारों ओर गुप्त समितियाँ स्थापित की थीं, उनके खर्च और प्रचार के लिए डाके डाले थे, सरकारी अधिकारियों के यहाँ रात में छापा मारकर शस्त्र एकत्र किये थे, पलटन में उन्होंने बगावत फैलाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने न जाने किस पुलिस के दारोगा को मारा था, और न जाने कहाँ, न जाने किस पुलिस सुपरिंटेण्डेण्ट को ! ये सभी बातें सरकार की ओर से प्रमाणित की गयीं।

उधर उन लड़कों की पीठ पर कौन था ? प्रायः कोई नहीं। सरकार के डर के मारे पहले तो कोई वकील ही उन्हें नहीं मिल रहा था, फिर एक बेचारा मिला भी तो 'नहीं' का भाई। हाँ उनकी पैरवी में सबसे अधिक परेशान वह बूढ़ी रहा करती। वह सुबह-शाम उन बच्चों को लोटा, थाली, जेवर आदि बेच-बेचकर भोजन पहुँचाती। फिर वकीलों के यहाँ जाकर दाँत निपोरती, गिड़गिड़ाती कहती—'सब झूठ है। न जाने कहाँ से, पुलिसवालोंने ऐसी-ऐसी चीजें हमारे घरों से पैदा कर दी हैं। वे लड़के केवल बातूनी हैं। हाँ, मैं भगवान् का चरण छूकर कह सकती हूँ। तुम जेल में जाकर देख आओ वकील बाबू ! भला, फूल-से बच्चे हत्या कर सकते हैं ?'

उसका तन सूखकर काँटा हो गया, कमर झुककर धनुष-सी हो गयी, आँखें निस्तेज; मगर उन बच्चों के लिए दौड़ना, हाय-हाय करना

जब से लाल और उस के साथी पकड़े गये, तब से शहर या मुहल्ले का कोई भी आदमी लाल की माँ से मिलने में डरता था। उसे रास्ते में देखकर जाने-पहचाने बगलें झाँकने लगते। मेरा स्वयं अपार प्रेम था उस बेचारी बूढ़ी पर; मगर, मैं भी बराबर दूर ही रहा! कौन अपनी गर्दन मुसीबत में डालता विद्रोही की माँ से सम्बन्ध रखकर?

उस दिन ब्यालू करने के बाद कुछ देर के लिए पुस्तकालयवाले कमरे में गया। वहीं किसी महान् लेखक की कोई महान् कृति क्षण-भर देखनेके लालच से मैंने मेज़िनी की एक जिल्द निकालकर उसे खोला। पहले ही पन्ने पर पेंसिल की लिखावट देखकर चौंका। ध्यान देने पर पता चला, लाल का वह हस्ताक्षर था। मुझे याद पड़ गयी। तीन बरस पूर्व उस पुस्तक को मुझसे माँगकर उस लड़के ने पढ़ा था।

एक बार मेरे मन में बड़ा मोह उत्पन्न हुआ उस लड़के के लिए। उसके वफ़ादार पिता रामनाथ की दिव्य और स्वर्गीय तसवीर मेरी आँखों के आगे नाच गयी। लाल की माँ पर उस पाजी के सिद्धांतों, विचारों या आचरणों के कारण जो वज्रपात हुआ था, उसकी एक ठेस मुझे भी, उसके हस्ताक्षर को देखते ही लगी। मेरे मुँह से एक गंभीर, लाचार, दुर्बल साँस निकलकर रह गयी।

पर, दूसरे ही क्षण पुलिस सुपरिंटेण्डेंट का ध्यान आया। उसकी भूरी, डरावनी, अमानवी आँखें मेरी- आप सुखी तो जग सुखी- आँखों में वैसे ही चमक गयीं, जैसे उजाड़ गाँव के सिवान में कभी-कभी भुतही चिनगारी चमक जाया करती है। उसके रूखे फौलादी हाथ- जिनमें लाल की तसवीर थी- मानों मेरी गर्दन चापने लगे। मैं मेज़ पर से 'इरेज़र' (रबर) उठाकर उस पुस्तक पर से उसका नाम उधेड़ने लगा।

उसी समय मेरी पत्नी के साथ लाल की माँ वहाँ आयी। उसके हाथ में एक पत्र था।

"अरे!" मैं अपने को रोक न सका- "लाल की माँ! तुम तो बिलकुल पीली पड़ गयी हो! तुम इस तरह मेरी ओर निहारती हो, मानों कुछ देखती ही नहीं हो! यह हाथ में क्या है?"

उसने चुपचाप पत्र मेरे हाथ में दे दिया। मैंने देखा, उस पर.... जेल की मुहर थी। सज़ा सुनाने के बाद वह वहीं भेज दिया गया था, वह मुझे मालूम था।

मैं पत्र निकालकर पढ़ने लगा। वह उसकी अंतिम चिठ्ठी थी। मैंने कलेजा रूखा कर उसे जोर से पढ़ दिया :

माँ !

जिस दिन तुम्हें यह पत्र मिलेगा उसके ठीक सवेरे मैं बाल अरुण के किरण-रथ पर चढ़कर उस ओर चला जाऊँगा। मैं चाहता तो अंत समय तुमसे मिल सकता था; मगर इससे क्या फायदा? मुझे विश्वास है, तुम मेरो जन्म-जन्मान्तर की जननी हो रहोगी! मैं तुमसे दूर कहाँ जा सकता हूँ? माँ! जब तक पवन साँस लेता है, सूर्य चमकता है, समुद्र लहराता है, तब तक कौन मुझे तुम्हारी करुणामयी गोद से दूर कौन खींच सकता है?

दिवाकर थमा रहेगा; अरुण रथ लिये जमा रहेगा; मैं, बंगड़, वह, यह सभी तेरे इंतज़ार में रहेंगे।

हम मिले थे, मिले हैं, मिलेंगे-हाँ, माँ! – तेरा लाल

काँपते हाथ से पढ़ने के बाद पत्र को मैंने उस भयानक लिफ़ाफे में भर दिया। मेरी पत्नी की विकलता हिचकियों पर चढ़ कर कमरे को करुणा से कंपाने लगी। मगर वह जानकी ज्यों की त्यों, लकडी पर झुकी, पूरी खुली और भावहीन आँखों से मेरी ओर देखती रही; मानों वह उस कमरे में थी ही नहीं।

क्षण-भर बाद हाथ बढ़ाकर मौन भाषा में उसने पत्र माँगा। और फिर, बिना कुछ कहे कमरे के, घर के, फाटक के बाहर हो गयी, डुगुर-डुगुर लाठी टेकती हुई।

इसके बाद शून्य-सा होकर मैं झम से कुर्सी पर गिर पड़ा। माथा चक्कर खाने लगा; उस पाजी लड़के के लिए नहीं, इस सरकार क्रूरता के लिए भी नहीं, उस बेचारी, भोली, बूढी जानकी- लाल की माँ के

लिए। आह! वह कैसी स्तब्ध थी। उतनी स्तब्धता किसी दिन प्रकृति को मिलती तो आँधी आ जाती। समुद्र पाता तो बौखला उठता।

जब एक का घंटा बजा, मैं ज़रा सगबगाया। ऐसा मालूम पड़ने लगा मानों हरारत पैदा हो गयी है– माथे में, छाती में, रग–रग में। पत्नी ने आकर कहा– "बैठे ही रहोगे? सोओगे नहीं?" मैंने इशारे से उन्हें जाने को कहा।

फिर मेज़िनी की जिल्द पर नज़र गयी। उसके ऊपर पड़े रबर पर भी। फिर अपने सुखों की, ज़मींदारी की, धनिक–जीवन की और उस पुलिस अधिकारी की निर्दय, नीरस, निसार आँखों की स्मृति कलेजे में कँपन कर गयी। फिर रबर उठाकर मैंने उस पाजी का पेंसिल–खचित नाम पुस्तक की छाती पर से मिटा डालना चाहा।

"माँ ँ ँ ँ ँ ँ ँ ँ!"

मुझे सुनायी पड़ा। ऐसा लगा, गोया लाल की माँ कराह रही है। मैं रबर हाथ में लिये, दहलते दिल से खिड़की की ओर बढ़ा, लाल के घर की ओर देखने के लिए। पर, चारों ओर अंधकार था, कुछ नहीं दिखायी पड़ा। कान लगाने पर कुछ सुनायी भी न पड़ा। मैं सोचने लगा, भ्रम होगा। वह अगर कराहती होती तो एकाध आवाज़ और अवश्य सुनायी पड़ती। वह कराहनेवाली औरत है भी नहीं। रामनाथ के मरने पर भी उस तरह नहीं घिघियायी थी जैसे साधारण स्त्रियाँ ऐसे अवसरों पर तड़पा करती हैं।

मैं पुनः उसीको सोचने लगा। वह उस नालायक़ के लिए क्या नहीं करती थी? खिलौने की तरह, आराध्य की तरह उसे दुलराती और सँवारती फिरती थी। पर.... आह रे छोकरे!

"माँ ँ ँ ँ ँ ँ ँ ँ!"

फिर वही आवाज़। ज़रूर जानकी रो रही है, वैसे ही, जैसे कुर्बानी के पूर्व गाय रोए। ज़रूर वही विकल, व्यथित, विवश बिलख रही है। हाय री माँ, अभागिनी वैसे ही पुकार रही है, जैसे वह पाजी गाकर, मचलकर, स्वर को खींचकर उसे पुकारता था।

अँधेरा धूमिल हुआ, फीका पड़ा, मिट चला। उषा पीली हुई, लाल हुई। अरुण रथ लेकर वहाँ- क्षितिज के उस छोर पर आकर पवित्र मन से खड़ा हो गया। मुझे लाल के पत्र की याद आ गयी।

"माँ ँ ँ ँ ँ ँ ँ ँ"

मानों लाल पुकार रहा था; मानों जानकी प्रतिध्वनि की तरह उसी पुकार को गारही थी। मेरी छाती धक-धक करने लगी। मैंने नौकर को पुकारकर कहा-

"देखो तो, लाल की माँ क्या कर रही है।"

जब वह लौटकर आया, तब मैं एक बार पुनः मेज़ और मेज़िनी के सामने खड़ा था। हाथ में रबर लिये उसी, उसी उद्देश्य से। उसने घबड़ाये स्वर से कहा-

"हुजूर, उनकी तो अजीब हालत है। घर में ताला पड़ा है और वह दरवाजे पर पाँव पसारे, हाथ में कोई चिठ्ठी लिये, मुंह खोले, मरी बैठी है। हाँ, सरकार! विश्वास मानिये, वह मर गयी है। साँस बन्द है, आँखें खुलीं. . . . ."

१४–संस्कृत के महान् पण्डित सूर्यदेव

श्रीयुत वंशीधर विद्यालंकार

अंग्रेजों और अंग्रेजी की चढ़ती के दिनों में सबसे अधिक यदि किसी की छीछालेदर हुई, यदि किसी की तक़दीर पर साढ़साती आई और यदि किसी की मार्केट दर सबसे अधिक गिरी तो वह बिचारे संस्कृत के पुराने पण्डित की। अर्थशास्त्र का क़ायदा है कि जो चीज़ कम होती हैं और जिसकी माँग ज्यादह होती है उसका दाम बाज़ार में बढ़ जाता है। बिचारें संस्कृत के पुराने पण्डित कम तो थे परन्तु इतने पर भी क्योंकि उनकी कुछ माँग न थी इसलिए बिचारों को मुफ्त में भी कोई नौकरी देने के लिए तैयार नहीं था। मेकाले ने लिखा था कि एक उस अलमारी से जिसमें संस्कृत की पुस्तकें भरी हों वह अलमारी अच्छी है जिसमें कोई किताब न हो और जो बिलकुल ख़ाली हो। संस्कृत का पुराना पंडित भारतीय संस्कृति और विचारधारा का समर्थक था; उसके लिए हिमालय, गंगा–यमुना, कावेरी और रामेश्वरम् तीर्थ थे और अंग्रेज तो ऐसे लोगों को चाहते थे जो न केवल अंग्रेजी और अंग्रेजीयत के समर्थक हों परन्तु जिनके लिए संसार में सबसे बड़ा तीर्थस्थान इंग्लैण्ड हो। ऐसी अवस्था में इन संस्कृत के पुराने पण्डितों को कौन पूछता ? इन पुराने पण्डितों के इन पुरानेपन, लकीर के फकीर होने और उनमें अन्य कई न्यूनताएँ होने पर भी उनमें कई ऐसी विशेषताएँ थीं कि जिन्होंने उन्हें देखा वह उनके सामने श्रद्धा से सिर झुकाए बिना नहीं रह सकता था। इतनी दुर्दशा होने के पश्चात् भी पुराना पण्डित सिर उठाकर चलता था और हृदय में अपने आपको

किसी तरह किसी अंग्रेजी के विद्वान् से हींन नहीं समझता था। वह अपनी बुरी अवस्था का कारण अपने बुरे दिनों को समझता था परन्तु वह अपने को बुरा नहीं समझता था। इंगलैण्ड में वर्षों रह चुकने और अंग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी हमारे देश के बडे बडे लोगों मे एक तरह की हीनता की मनोवृत्ति (Inferiority complex) पाई जाती हे और वे यूरोपीय संस्कृति, सभ्यता और व्यवहार का अन्धानुकरण करने में अपना गौरव समझते हैं। इसके विपरीत संस्कृत का पुराना पण्डित अपने दीन–हीन वेश में, अपने फटे-पुराने कपडों में, अपनी निष्ठा में स्थिर था, विश्वास में अटल था और अपनी मर्यादा के सामने बडे बडे अंग्रेज़ अधिकारियों को हीन और अस्पृश्य समझता था !

इन महान् पण्डितों की कमजोरियों, दकियानूसीपन किसी के हाथ का न खाना, छूआछूत, अन्धविश्वास और प्राचीनता के प्रति अन्ध हठ से तो संसार परिचित है परन्तु उनकी सादगी, सरलता, सहृदयता, निष्कपटता, अगाध और विस्तृत विद्वत्ता, विनय, शालीनता और लिहाज़ से बहुत कम लोग परिचित हैं। वे किसी स्कूल, पाठ शाला या कालेज में पढे नहीं होते थे परन्तु इस पर भी उनका ज्ञान ठोस होता था। इन पण्डितों की मेधाशक्ति और स्मृतिशक्ति को देख कर आश्चर्य होता था; वे एक चलतें फिरते संस्कृत के पुस्तकालय प्रतीत होते थे। आप कहीं से कोई पंक्ति निकाल लीजिए उन्हें कण्ठस्थ थी और वे बिना किसी पुस्तक की सहायता के उसे समझा देते थे और उसके पूर्वापार प्रकरण को देखने की उनको कोई आवश्यकता अनुभव नहीं होती थी। जिन कार्यों को विस्तृत होने के कारण बहुत से विद्वान् मिल कर करते हैं उनके लिए एक पंण्डित ही पर्याप्त था। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय को ऐसी सरलता और स्पष्टता से समझाते थे कि उनकी बुद्धि एक विशाल और अगाध समुद्र सी प्रतीत होती थी। उनको यह ज्ञान या तो वंश-परम्परा द्वारा प्राप्त होता था और या फिर किसी गुरु के द्वारा। निर्धन और दरिद्र होने पर भी, चनों पर गुज़ारा करके भी वे इस

ज्ञान को साधना, तप और घोर परिश्रम के द्वारा उपार्जित करते थे। इस समय तो विद्या के उपार्जन के लिए पैसा ही बड़ा साधन समझा जाता है क्योंकि जो पैसा खर्च कर सकता है वह ही अपने बच्चों को ऐसे ऊँचे विद्यालयों में भेज सकता है जहाँ उच्चशिक्षित और कठिनाई से प्राप्य अध्यापक प्राप्त हो सकते हैं परन्तु ये पण्डित विद्या का उपार्जन धन के बल पर नहीं करते थे। वे अपने उग्र तप, कठोर-साधना और निरंतर परिश्रम से जागरूक रह कर ज्ञान प्राप्त करते थे और इसी लिए वे अपने ज्ञान के स्वयं एक जीवित प्रतीक होते थे। जो उनके इस ज्ञान से जरा सा भी परिचय प्राप्त करता था वह अपने हृदय में इस बात को अनुभव कर सकता था कि संस्कृत के पुराने पंडित होने के क्या अर्थ हैं और वे कैसे होते हैं!

जब हरिद्वार से तीन मील दूर गुरुकुल-विश्वविद्यालय कांगड़ी की स्थापना हुई और संस्कृत के पुनरुज्जीवन के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हुए उस समय गुरुकुल-कांगड़ी में दूर-दूर से कुछ ऐसे संस्कृत के महान् पंडित आए जिनके स्मरण से न केवल प्रसन्नता होती है अपि तु जिनकी बुद्धि, स्मृति-शक्ति और जिनके ज्ञान पर आज भी आश्चर्य होता है! इनमें से एक पंडित श्रीयुत सूर्यदेव जी थे। ये छपरा ज़िले के रहने वाले थे। वे जितने दिन गुरुकुल में रहे उनके जीवन, रहन-सहन और व्यवहार में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। जैसे कि वे पहले दिन थे—आखिरी दिन तक वे वैसे ही रहे मानो वे सत्य सनातन की एक सजीव मूर्ति थे। उनकी आयु और उनके शरीर में भी किसी प्रकार का परिवर्तन अनुभव नहीं होता था। परिवर्तनशील विश्व में मानों वे ही एक अपरिवर्तनशील थे। न ज़्यादह बोलते थे, न ज्यादह हँसते थे—कभी कभी हलका मुसकराते थे, सर्वथा निरीह और निष्कपट थे, हृदय के के सरल, बच्चों जैसे भोले, किसी को कुछ न कहने वालें, मृदु स्वभाव, पढ़ाने के लिए सदा तैयार। न किसी के साथ खाते-पीते थे, सब से अलग-सलग रहते थे। कभी कभी पंडित मंडली आकर उनके पास बैठ जाती थी। गंगा के किनारे के बाँध के पास, गुरुकुल-महाविद्यालय के

आश्रम के पास जो टिन-शेड बने हुए थे उन्हीं में से दो कमरे उन्होंने लिए हुए थे और वे गर्मी, सर्दी और वर्षा में वहीं रहते थे। वे सदा नंगे सिर रहते थे जिस पर थोडे से बाल थे। पीछे पतली और बँधी हुई शिखा थी और थे वे नंगे पैर। घुटे हुए सिर जैसे रंग का चमकता हुआ श्याम वर्ण का गोल चेहरा, ललाट चौड़ा और उन्नत, आँखें बडी और थीं भुरभुरी, गंगाजमुनी मूँछे। वे घुटनों तक की धोती बाँधते थे। धोती कभी धोबी के पास धुलती नहीं थी। उसके ऊपर वे सफेद कपचा या मिर्जई पहनते थे जिसमें बटनों के स्थान पर बाँधने के लिए बन्द लगे थे। सर्दियों में यह मिर्जई गरम कपडे की होती थी और इस पर एक दुपट्टा रहता था। बस यही उनकी पोषाक थी। बोली भी वे छपरे तरफ़ की बोलते थे। क़द के ऊँचे थे; शरीर अच्छा था; न मोटा न पतला। उनके एक छोटे भाई थे। उनका रंग-रूप बिलकुल उन्हीं के जैसा था; ज़रा उनसे पतले और क़द के छोटे थे। वे उनके साथ रहते थे और उनका भोजन बना देते थे। बस यही उनका परिवार था। गुरुकुल के पुस्तकालय से वे ऐसी गहन और कठिन विषयों की पुस्तकें ला कर पढ़ते थे जिन्हें अत्यन्त प्राचीन और दुरूह होने के कारण कोई हाथ लगाने का साहस तक नहीं करता था। इन्हीं पुस्तकों को पुस्तकालय से ले जाने के कारण इस बात का ज्ञान हो सका कि वे न केवल एक महान् विद्वान् हैं अपि तु गुरुकुल के स्वर्गीय कुलपति श्रीयुत आचार्य रामदेव जी के शब्दों में वे एक चलते-फिरते ज्ञानकोश (इन्साइक्लोपीडिया) थे। जब कोई उनसे उनके टिनशेड़ के कमरे में पढ़नें के लिए आता था, वे अपने तख़्त पर प्रायः लेटे हुए पढ़ाते थे। उनके पास पुस्तक नहीं होती थी। पढ़ने वाला अपनी पुस्तक से पढ़ता जाता था और वे लेटे लेटे व्याख्या करतें जाते थे और विषय को सरल और स्पष्ट रूप में समझाने का प्रयत्न करते थे। संस्कृत व्याकरण, साहित्य, अलंकार शास्त्र, वेद, दर्शन और ब्राह्मण-ग्रन्थ सभी विषयों के वे पारंगत विद्वान् थे। पढ़ाने के लिए उनके घर का द्वार सर्वदा खुला था। जो पुस्तकें अत्यन्त दुर्बोध थीं और जिनका नाम लेने से भी बडे-से-बडे

पंडितों के दिलों मे कँपकँपी छूटती थी–उन पुस्तकों को वे किसी परीक्षा के लिए नहीं परन्तु अपने मनोरंजन के लिए पढ़ा करते थे। वे इन पुस्तकों को इस तरह पढ़ा करते थे जैसे कि कोई उपन्यास पढ़ रहा हो। जब वे किसी पुस्तक का हवाला देते थे तो इस प्रकार कहा करते थे: 'गुरुकुल के पुस्तकालय (और गुरुकुल का पुस्तकालय विशाल था) में चले जाओ। वहाँ फ़लाने विभाग की फ़लानी अलमारी में फ़लाने खाने में फ़लाने नम्बर पर फ़लानी पुस्तक रखी है–उसके फ़लाने पृष्ठ पर फ़लानी पंक्ति है और उस पंक्ति को देख लो।' और यह सब बिलकुल ठीक निकलता था। उनकी इस अद्भुत स्मृतिशक्ति पर बड़ा आश्चर्य होता था परन्तु वे ये सब बातें अत्यन्त सरलता से इस प्रकार कहा करते थे कि जैसे यह कोई अत्यन्त साधारण-सी बात हो। उनमें किसी प्रकार का अभिमान, दंभ या दिखावा नहीं था। उनका जीवन अत्यन्त आधारण और स्वाभाविक था। उनमें किसी प्रकार की बनावट या कृत्रिमता नहीं थी। उनके इस अत्यन्त साधारणता और सादगी के कारण यह ज्ञात नहीं होता था कि वे कोई महान् और असाधारण पंडित हैं। उनके पास किसी प्रकार की कोई डिग्री या उपाधि नहीं थी। जब वे पहले पहल गुरुकुल में आए तो उनकी सरल वेशभूषा, बातचीत करने की कम आदत और डिग्री आदि के अभाव के कारण उन्हें संस्कृत पढ़ाने के लिए पाँचवीं और छठी श्रेणियाँ दे दी गईं–पीछे तो वे कालेज की सबसे बडी कक्षाओं को ब्राह्मण-ग्रन्थ आदि पढ़ाया करते थे। वे जिस प्रकार कालेज के विद्यार्थियों को पढ़ाते थे उसी प्रकार पाँचवीं और छठी कक्षा को पढ़ाते थे। मैंने उनसे इन कक्षाओं में भी पढ़ा था और कालेज को कक्षाओं में भी। उनके लिए दोनों एक समान थीं। छोटी कक्षाओं को पढ़ाने में उन्हें किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नहीं होता था और उच्च कक्षाओं को पढ़ाते हुए वे किसी प्रकार की उच्चता का अनुभव नहीं करते थे। वे जब छोटी कक्षाओं को पढ़ाते थे उस समय की एक घटना का मुझे प्रायः स्मरण आता है। इस घटना से जहाँ कुछ हँसी आती है वहाँ उनके हृदय की सरलता और

मिठास का भी अनुभव होता है। वे आहिस्ता बोलते थे– ऊँचा बहुत कम बोलते थे। पुराने पंडित थे इसलिए विद्यार्थी पढ़ाई के समय कभी आपस में बातचीत करने लग जाते थे। वे गुस्से में या किसी प्रकार आवेश में आते ही नहीं थे। वे जिस आवाज में पढ़ा रहे होते थे उसी आवाज में शान्ति पूर्वक विद्यार्थी का नाम लेकर उसे खडे होजाने के लिए कहते थे ओर जब विद्यार्थी खडे होकर भी आपस में बातचीत करते रहते थे तब से उसी प्रकार शान्तिपूर्ण आवाज में कहते थे: 'अच्छा, तो तुम मानोगे नहीं।' आपस में वातचीत करते हो। अच्छा, तुम सब 'वध्यस्थल' में एक एक करके आते जाओ।' वे पीटने को 'वध' करना कहते थे। 'एक एक करके विद्यार्थी 'वध्य-स्थल' में बुलाओ जाते थे। 'वध्य-स्थल' उनकी मेज़ की दाईं तरफ़ कुर्सी के पास था। बातचीत करनेवाले विद्यार्थियों में से प्रत्येक को वे नाम ले कर अलग अलग बुलाते थे। और वहाँ आ जाने पर जिस प्रकार उनका 'वध' करते थे वह उनका पंडिताऊ दंड देने का अपूर्व ढंग था जिससे उनकी दयालुता और हृदय के प्रेम का पता चलता है। वे पंडिताऊ ढंग से कहते थे "तो, तुम मानोगे नहीं। आओ, 'वध्य-स्थल' में खडे हो जाओ" और वे विद्यार्थी के 'वध्य-स्थल' में खडे हो जाने के पश्चात उसकी पीठ पर अपना बायाँ हाथ रख देते थे और फिर अपने उस हाथ पर धीरे-सें अपना दायाँ हाथ अेक बार मार देते थे और कहते थे: 'जाओ, अब अपने स्थान पर जा कर बैठ जाओ और पढ़ाई के समय बातें मत किया करो।' उन के 'वध्य-स्थल' को जिसने देखा है वह उनके इस पंडिताऊ सरल प्रेम को कैसे भूल सकता है! उन्होंने कभी किसी विद्यार्थी को किसी तरह का कोई सख्त शब्द नहीं कहा–मारने-पीटने की तो बात ही क्या थी।

उन दिनों बहुत से अंग्रेज अधिकारी गुरुकुल को राज-विद्रोह की संस्था समझते थे। गुरुकुल शहरों से दूर जंगल में था और फिर इस संस्था को चलाने के लिए अंग्रेज़ अधिकारियों ने सरकारी सहायता देने के लिए बहुत प्रयत्न किया जिसे स्वामी श्रद्धानन्द ने स्वीकार नहीं

किया। वे इस संस्था को एक स्वतंत्र संस्था रखना चाहते थे। अंग्रेज अधिकारी इस स्वतन्त्रता का अर्थ कुछ और ही समझते थे। वे समझते थे कि यहाँ जंगलों के एकान्त में विद्यार्थी अंग्रेजी सल्तनत के खिलाफ बगावत करने के लिए तैयार किये जा रहे हैं। उनमें भारतीयता के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिअे संस्कृत आदि विषय पढ़ाअे जाते हैं। परिणाम यह हुआ कि इस संस्था को देखने के लिअे यू. पी. के राज्यपाल सर जेम्स मेस्टन जो पीछे लार्ड मेस्टन हो गअे थे कई बार आअे। रेमजे मैक्डोनल्ड जो बाद में ग्रेट ब्रिटेन के लेबर पार्टी की ओर से प्रथम प्रधान मन्त्री बने थे गरुकुल पधारे थे और उन्होंने अेक लेख में लिखा था जिसका शीर्षक था—' Is this sedition ? ' 'क्या यह राजविद्रोह है ?' यह लेख इलाहाबाद के उस समय के प्रसिद्ध पत्र ' पायानियर ' में प्रकाशित हुआ था। अन्त में ' रोलेट अेक्ट ' के समय के प्रसिद्ध वाइसराय लार्ड चेल्म्सफोर्ड हाथी पर बैठ कर गुरुकुल पधारे थे। सारे मार्ग को झंडियों से सजाया गया था। बडे द्वार पर उनका स्वागत करने के लिअे गुरुकुल विश्वविद्यालय के प्राध्यापकगण खडे थे। वाइसराय से हाथ मिला कर अपने को कौन धन्य न समझता परन्तु उन प्राध्यापकों में श्रीयुत पं. सूर्यदेव हीं अैसे थे जो वाइसराय से हाथ नहीं मिलाना चाहते थे। जब लार्ड चेल्म्सफोर्ड सब प्राध्यापकों से ' शेक हैण्ड ' करते हुअे इनके पास आअे तो उन्होंने अपने हाथ को पीछे हटाने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु उन्होंने अपना हाथ बढ़ा कर इनका हाथ अपने हाथ में ले ही तो लिया और फिर हँसते हुअे आगे बढ़ गअे। वाइसराय से हाथ मिलाने पर औरों को तो प्रसन्नता होतीं परन्तु इससे इनके हृदय को बहुत कष्ट हुआ। वे दुःखी हृदय से गंगा-तट पर आअे। गाय का गोबर लाकर कई बार पहले अपने हाथों को मला और गंगा-जल से धोया। फिर गाय के गोबररूपी साबुन को अपने समस्त शरीर पर बार बार लगा कर घण्टे भर तक गंगा में स्नान किया और फिर कहीं उनके चित्त को शान्ति हुई। किसी ने पूछा : ' पंण्डित जी! वाइसराय से हाथ मिला कर आपको

बहुत प्रसन्नता हुई होगी।' उत्तर में उन्होंने कहा : 'राम, राम! तुम प्रसन्नता की बात करते हो। हम तो भ्रष्ट हो गअे। हमने तो वाइसराय से हाथ मिलाने से बचने की बहुत कोशिशें कीं परन्तु उस म्लेच्छ ने हाथ पकड़ ही लिया।'

आचार्य रामदेव जी भारतीय शिक्षा के साथ अंग्रेजी की शिक्षा के पक्षपाती थे पर वे इनके विषय में प्रायः कहा करते थे : "पं. सूर्यदेव तो एक ज्ञानकोश हैं। वे एक चलते फिरते पुस्तकालय हैं। वे चाहे महाविद्यालय में कुछ न पढ़ाएँ तो भी वह शिक्षणालय धन्य है जहाँ ऐसे महान् पंडित निवास करते हों।" आचार्य रामदेव जी उन्हें अत्यन्य श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। वे कहते थे कि संस्कृत के कई शब्दों की कठिनाई को जो कि अन्य कई बड़े पण्डित दूर नहीं कर सके थे उन्होंने हँसते खेलते दूर कर दिया था। जब वे गुरुकुल से चले गए थे तब आचार्य रामदेव जी को बहुत कष्ट हुआ था और उनके गुरुकुल से चले जाने को वे एक अपराध-सा अनुभव करते थे।

अब हमारे देश में संस्कृत भाषा को पुनः शौक़ से पड़ा जाने लगा है और कई महान् पंडित इस समय हमारे देश में हैं जिन्हें संस्कृत का गहरा ज्ञान है परन्तु वे संस्कृत के आधुनिक पंडित हैं। हमारे देश से जो कई प्राचीन परम्पराएँ लुप्त हो गई हैं उनमें एक परम्परा प्राचीन पंडितों की भी है। शिक्षा की प्रणाली में परिवर्तन हो जाने के पश्चात् अब उस प्रकार के पण्डितों के होने की भी कम संभावना रह गई है। अंग्रेज़ अधिकारियों ने हमारे देश में बहुत से संग्रहालय बनाए, बहुत से ऐतिहासिक स्थानों के भग्नावशेषों को सुरक्षित रखने के लिए विधान बनाए और इसी प्रकार प्राचीन निधियों को सुरक्षित करने के लिए प्रयत्न किए। उन्होंने संस्कृत के कालेजों की स्थापना भी की परन्तु उनकी शिक्षाप्रणाली से हमारे देश से प्राचीन पण्डितों की परिपाटी बहुत कुछ उठ-सी गई। पुराने पंडितों का संस्कृत का ज्ञान कितना ठोस और विस्तृत था यह तो वे ही लोग जानते हैं जिन्होंने

कभी उनसे संस्कृत के शास्त्र-ग्रन्थ पढे हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि वे न तो किसी परीक्षा में पास होने के लिए और न आजीविका के लिए संस्कृत का अध्ययन करते थे। यह तो एकमात्र उनका विद्या का प्रेम था और इसी विद्या के प्रेम के कारण ही अन्य हजारों न्यूनताओं के होते हुए भी पुराने पंडितों के प्रति लोगों में इतना आदर और श्रद्धा थी। कई दशकों के व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी जब मुझे श्रीयुत पं. सूर्यदेव का स्मरण हो आता है तो मेरी आँखों में आँसू भर जाते हैं और मेरा मस्तक उनके चरणों में श्रद्धापूर्वक झुक जाता है!

१५–गोस्वामी तुलसीदास का व्यक्तित्व

श्रीयुत श्यामसुन्दरदास

गोसाईं जी की आकृति कैसी थी, उनका रूप-रंग कैसा था, नाटे थे या लम्बे, हृष्ट पुष्ट थे या दुर्बल, इसका हमें निश्चय-पूर्वक कुछ भी ज्ञान नहीं है। 'दियो सुकुल जन्म शरीर, सुन्दर हेतु जो फल चारि को' के आधार पर उनके शरीर की सुन्दर और सुडौल रचना हमने मानीं है। परन्तु यह भी हो सकता है कि गोसाईं जी अपने शरीर को सुन्दर इसलिए समझते रहे हैं कि वह धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों फलों का साधन था। उनके जो चित्र छपते हैं उनसे भी हमारा ज्ञान नहीं बढ़ सकता क्योंकि प्रामाणिकता संदिग्ध है।

अब तक उन के दो चित्र मिले हैं। एक गंगाराम ज्योतिषी जी के उत्तराधिकारियों के यहाँ प्रल्हाद घाट (काशी) पर है और दूसरा स्वर्गीय पंडा विन्ध्येश्वरी प्रसाद जी के घर पर जो अस्सी (काशी) पर गोसाईं जी के अखाडे के पास है ये दोनों चित्र एक दूसरे से बिलकुल नहीं मिलते; यद्यपि दोनों वृद्धा अवस्था के ही जान पड़ते हैं। एक में वे बहुत दुर्बल दिखलाये गये हैं और दूसरे में बहुत स्थूल। आकृति में भी बहुत भेद है। अस्सी वाला चित्र डॉ० ग्रिअर्सन के प्रयत्न से पहले पहल खड्ग-विलास प्रेस बाँकीपुर से प्रकाशित 'रामायण' में छपा था। इस चित्र का कोई भी पुरावृत्त ज्ञात नहीं है। कुछ लोग इस चित्रको सुन्दर मानते हैं। किस के दृष्टि से, सो नहीं कहा जा सकता। यदि भारी भरकम शरीर होना सुन्दरता का एक-मात्र लक्षण हो तो यह चित्र भी गोसाईं जी की सुन्दरता को प्रमाणित कर सकता है।

प्रल्हाद-घाट वाले चित्र के लिए कहा जाता है कि यह वही चित्र है जिसे जहाँगीर ने उतरवाया था। प्रल्हाद-घाट पर के तुलसीदास जी के अखाड़े के उत्साही अधिकारी पण्डित रणछोड़ व्यास ने इसी चित्र के आधार पर गोसाईं जी की एक संगमरमर की मूर्ति बनवा कर स्थापित की है। इस चित्र के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि वह उस समय का है जब गोसाईं जी बाहु-पीड़ा से ग्रस्त थे इसीलिए इसमें एक हाथ पतला दिखाया गया है।

नागरी-प्रचारिणी सभा से गोसाईं जी का जो चित्र प्रकाशित हुआ है वह इससे मिलता-जुलता है। परन्तु उसमें दोनों हाथ पतले बनाये गये हैं। सम्भवतः प्रतिलिपिकारों ने एक हाथ को दूसरे से पतला रखना मूल चित्रकार की असावधानी समझी हो। आजकल विद्वानों का मत इसी को असली स्वीकार करने ओर है। जब तक इसके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिलते तब तक हमारी भी प्रवृत्ति इसी को प्रमांणिक मानने की होती है। तप और वार्धक्य से क्षीण होने पर भी गोसाईं जी इस चित्र में सुन्दर दिखाई देते हैं।

गोसाईं जी की बाहरी रूपाकृति के विषय में चाहे हमारी धारणा अनिश्चय में फँसी हो, परन्तु उनके वास्तविक व्यक्तित्व के विषय में अनिश्चय का कोई स्थान नहीं। उनका हृदय एक खुली पुस्तक है। उनकी रचनाओं के द्वारा हम उनके हृदय में प्रवेश कर उनके व्यक्तित्व के उस रहस्यमय आकर्षण को समझ सकते हैं जिसके द्वारा आज हिन्दुओं की ही नहीं, मनुष्य-मात्र की श्रद्धा और भक्ति उनकी ओर खिची जा रही है।

वे प्रकृति के सरल थे और शील के आगार थे। उनका शील जिसकी आभा से "रामचरित मानस" भी अभिमण्डित है, बाहरी शिष्टाचार मात्र नहीं है। वह उनके अस्तित्व का अभिन्नांश है, उनके हृदय का विभव है। राम के गुणों ने उनके हृदय में बैठ कर सब दुर्गुणों और सांसारिक वक्रताओं के लिए अर्गला लगा दी थी। बैर ओर विरोध से वे दूर रहते थे।

प्राणि मात्र से उनके हृदय का लगाव था और सभी के हित-साधन को वे लक्ष्य में रखते थे। यही कारण है कि छोटे और बड़े से बड़े के घर में भी उनकी वाणी की गूंज सुनाई देती है। बाइबिल को छोड़ कर 'रामचरित मानस' के समान सर्वप्रिय संसार में कदाचित् ही कोई दूसरा ग्रन्थ हो। वह भी इसलिए कि उसे गोसाईं जी ने सबके लिए सदा के लिए लिखा है। 'रामराय' होने के कारण सब को वे सम-दृष्टि से देखते थे। इसी सम-दृष्टि में उनकी सहिष्णुता और क्षमा-शीलता का भी रहस्य छिपा हुआ है। जब वे किसी अवस्था में भी भेद नहीं समझते थे तब किसी के उन्हें बुरा कहने पर भी वे बुरा कैसे मान सकते थे। वे उस अवस्था में बहुत ऊँचे उठ गये थे जहाँ भले और बुरे का भेद लोगों को चंचल कर देता है। कोई उनकी प्रशंसा करे अथवा निन्दा, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं रहता था।

साधु-सन्तों को भला-बुरा कहने से निश्चय ही लोग अपनी ही वास्तविकता का परिचय देते हैं। उससे सन्तों का कुछ बन या बिगड़ नहीं सकता। इसी से किसी निन्दक की उन्होंनें बुराई नहीं चाही। उनकी यही सहिष्णुता भिन्न-भिन्न विरोधी धर्म-सम्प्रदायों के सामंजस्य-विधान में प्रतिफलित हुई। उनके ग्रन्थों से यह बात स्पष्ट ही है कि वे स्मार्त-वैष्णव थे। इसके साथ मध्यान्हव्यापिनी रामनवमी को उनके रामचरित-मानस के प्रारम्भ करने से यह बात और पुष्ट हो जाती है क्योंकि स्मार्त वैष्णव ही मध्यान्ह में रामनवमी मानते हैं। साधारण मत से उदय-काल में रामनवमी मानी जाती है।

स्वयं वैष्णव होते हुए भी उन्होने शैवों की निन्दा नहीं की बल्कि शिव और विष्णु दोनों की समानता का प्रतिपादन किया। वैष्णवों और शैवों का विरोध उन्हें अच्छा नहीं लगा। इस बैर को मिटाने के लिए उन्होंने शिव को राम का अनन्य भक्त और राम को शिव का उपासक बनाया। उनके राम ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि—'शंकर प्रिय मम-द्रोही, शिव द्रोही मम दास' दोनों नरक भागी

हैं, जो एक का विरोधी हो वह दूसरे का भक्त नहीं हो सकता। राम-भक्त का यह लक्षण है कि वह शिव का भी सेवक हो।

‘बिनु छल विश्वनाथ पद नेहू,
राम भगत कर लच्छन एहू।’

एक कथानक तो उनको जैनों और हिन्दुओं के बीच भी सामंजस्य स्थापित करता सा दिखता है। हिन्दुओं के तो किसी भी देवता की उपासना की अथवा किसी सम्प्रदाय को उन्होंने अपने सामंजस्य विधान के बाहर नहीं छोड़ा है। "विनय पत्रिका" में उन्होंने गणेश, सूर्य आदि प्रत्येक देवता की वन्दना की है। यदि किसी मत से उनकी सामंजस्य-बुद्धि का विरोध हुआ तो वह वाम-मार्ग से। यह भी इसीलिए कि वह वाम-मार्ग उन्हे समाज की मर्यादा का उल्लंघन करता हुआ दिखाई दिया।

इसी प्रकार भूत-प्रेत पूजा को भी वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनके मत में भूत-प्रेत-पूजकों को बहुत नीच गति मिलती है। बात यह है कि जो व्यक्ति जिसकी उपासना करता है उसी तक उसकी गति होती है। अपने से ऊपर वालों को पूजा करने में तो कोई अर्थ है। उसने किसी सीमा तक उच्चकरण ही होगा, अधःपात नहीं; परन्तु जो लोग मनुष्यों से भी पतित भूत-प्रेतो की पूजा करते हैं उनका अधःपात निश्चित है।

सात्विक वृत्ति के साथ विश्वास के संयोग से वे सब कुछ सम्भव समझते हैं। इसीलिए उन्होंने वणिक कमलभव को यह उपदेश दिया था कि यदि किसी ऊँचे पेड़ के नीचे त्रिशूल खड़ा कर पेड़ से उस पर कूद जाओ तो अवश्य तुम्हें परमात्मा के दर्शन होंगे। यदि कोई कहे कि राम नाम के प्रभाव से पत्थर पर कमल उग आया तो वे उसे सही स्वीकार करने में आना-कानी न करेंगे —‘राम-प्रताप सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जाम्यो।’ परन्तु राम की करामात छोड़ कर जब जहाँगीर ने उनसे अपनी करामात दिखाने को कहा तो उन्होंने साफ़ कह दिया कि यह बात झूठ है कि मुझमें कोई करामात है! राम-नाम

के सिवाय मैं और कोई चमत्कार नहीं जानता, क्योंकि जीवन मनुष्य के साथ अन्धविश्वास के सयोग से पाखण्ड की वृद्धि होती है जिसके विरुद्ध गोसाईं जी जन्म भर लड़ते रहे।

अवतार-वाद में भी, गोसाईं जी के सिद्धान्तों का प्रधान आधार-स्तम्भ है, मनुष्य की ही पूजा होती है सही, किन्तु वह ईश्वर के लिए किसी व्यक्ति की ओर दम्भ-पूर्ण दावा नहीं है, प्रत्युत मरण पर्यन्त न्यायानुकूल व्यतीत किये गये जीवन के महत्व की समाज की ओर से श्रद्धामय स्वीकृति है। वह एक पुरस्कार है जो व्यक्ति को नहीं, उसकी स्मृति को ही मिल सकता है। उसका उपयोग करने के लिए व्यक्ति नहीं रहता, केवल उसका व्यक्तित्व रह जाता है। भक्ति के आदर्श के आवेश में इस सिद्धान्त को भूल कर कहीं-कहीं गोसाईं जी राम के मुँह से ईश्वरत्व का दावा करा गये हैं। भक्ति का यह आवेश केवल इसलिए क्षम्य कहा जा सकता है कि यह प्राकृत-जन का गुण-गान नहीं है, इतिहास नहीं है; वरन् युगों पीछे उन्हें समाज द्वारा ईश्वरत्व मिल जाने के बाद एक भक्ति की भावना है। इसी बात से राम एक दम्भी राजा और तुलसीदास उनके चाटुकार कहे जाने से बच जाते हैं।

अपने प्रभु को जहाँ गोसाईं जी अधिक से भी अधिक महत्व देते हैं वहाँ अपने लिय वे छोटे से स्थान ढूँढ़ते हैं। विनय के तो वे मानों अवतार ही थे। दम्भ उन्हें छू नहीं गया था। किस प्रकार छोटी अवस्था में वे घर-घर टुकड़े माँगते फिरते थे, यह कहने में उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ—

'बारे ते ललात बिललात द्वारे-द्वारे दीन
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को'

अपने प्रभु के सामने बार-बार अपनी दीनता का वर्णन करते हुए वे थकते ही नहीं थे। उत्कट कवि होते हुए भी वे अपनी गिनती कवियों में नहीं करते थे नम्रता के कारण वे अपने आप को सबसे निकम्मा

समझते थे। बुरे लोगों में अपनी गिनती वे सबसे पहले करते हैं। परन्तु क्या कभी वास्तविक हीन व्यक्ति के हृदय में अपनी लघुता का इतना गहन और विशद अनुभव हो सकता है? और जिसे यह अनुभव हो जाय वह क्या कभी लघु रह सकता हैं? 'लघुत्व' के सामने सारी महत्ता वार देने योग्य है।

परन्तु यह सहिष्णुता, क्षमाशीलता और विनय व्यक्तिगत साधना-क्षेत्र के अन्तर्गत है। जहाँ समाज मर्यादा भंग होने का प्रश्न आता है वहीं गोसाईं जी उसे त्याग देते थे। वहाँ फिर वे 'शठे शाठ्यं' की नीति का अवलम्बन उचित समझते थे। 'कतहुँ सिधाइहु तें बड़ दोषू' कह कर उन्होंने इसी व्यवहारिक चातुर्य्य का अनुमोदन किया है। व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में पाखण्ड फैलाकर जो लोग सामाजिक व्यतिक्रम का उपक्रम करते हैं उन्हें वह क्षमा नहीं कर सके।

उनकी बिनय और लघुता की भावना ऐसी भी नहीं थी कि उनको पौरुषेय गुणों से दूर रख कर आत्म-सम्मान-रहित बिलकुल चाटुकार बना देती। संसार की कोई भी शक्ति उनको उस अवस्था में न डाल सकती थी जिसमें मनुष्य कहने लगता है- 'हमहुँ कहब अब ठाकुर-सुहाती।' इसके विपरीत 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं', का उनको गहरा अनुभव हुआ था।

भारत और भारतीय संस्कृत को, रामायण को, वे जिसका संकलित संस्करण समझते थे, उन्हें औचित्य-पूर्ण गर्व था। इसी संस्कृति ने भारत को अग्रणी बनाया था।

वे निःस्पृह व्यक्ति थे। लोभ से वे कोसों दूर थे। न किसी के मान को चाहते थे और न दान को। जहाँगीर ने उन्हें धन-धरती देनी चाही, परन्तु वे राजा बादशाहों की कृपा के भूखे तो थे ही नहीं जो स्वीकार कर लेते। किसी के सामने हाथ फैलाकर वे राम के दासत्व का अपमान नहीं करना चाहते थे।

अपने व्यक्तित्व के विस्तार से हिन्दू जाति और संस्कृति की रक्षा का अव्यर्थ विधान करने गोसाईं जी ने मानव-जाति के एक अंश विशेष का ही उपकार नहीं किया, प्रत्युत सारी मानव जाति का हित-साधन किया है। क्योंकि वास्तव में एक जाति-विशेष के बीच विकसित होने पर भी हिन्दू संस्कृति सार्वभौम उपयोग की वस्तु है। सारे विश्व को अपनाकर वह सारे विश्व की वस्तु हो गई है। उसे संकुचित अर्थ में हिन्दू कहना उसके महदुद्देश्य को न समझना है। भारतीय संस्कृति की रक्षा में सारी मानव-जाति की रक्षा है।

१६—स्मृति की रेखाएँ

श्रीमती महादेवी वर्मा

मुझे चीनियों में पहचान कर स्मरण रखने योग्य विभिन्नता कम मिलती है। कुछ समतल मुख एक ही साँचे में ढले से जान पड़ते हैं और उनकी एकरसता दूर करने वाली, वस्त्र पर पडी हुई सिकुड़न जैसी नाक की गठन में भी विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। कुछ तिरछी, अधखुली और विरल भूरी वरुनियों वाली आंखों की तरल रेखाकृति देखकर भ्रांति होती है कि वे सब एक नाप के अनुसार किसी तेज़ धार से चीर कर बनाई गई हैं। स्वाभाविक पीतवर्ण धूप के चरण–चिन्हों पर पडे हुए धूल के आवरण के कारण कुछ ललछौंहे सूखे पत्ते की समानता पा लेता है। आकार–प्रकार, वेश–भूषा सब मिलकर इन दूर–देशियों को यन्त्रचालित पुतलों की भूमिका दे देते हैं, इसी से अनेक बार देखने पर भी एक फेरी वाले चीनी को दूसरे से भिन्न करके पहचानना कठिन है।

पर आज मुखों की एकरूप समष्टि में मुझे एक मुख आर्द्र नीलिमामयी आँखों के साथ स्मरण आता है जिसकी मौन भंगिमा कहती है–हम कार्बन की कापियां नहीं हैं। हमारी भी एक कथा है। यदि जीवन की वर्णमाला के सम्बन्ध में तुम्हारी आँखें निरक्षर नहीं तो तुम पढ़कर देखो न।

कई वर्ष पहले की बात है। मैं तांगे से उतर कर भीतर आ रही थी और भूरे कपडे का गट्ठर बायें कन्धे के सहारे पीठपर लटकाये हुए और दाहने हाथ में लोहे का गज घुमाता हुआ चीनी फेरीवाला

फाटक से बाहर निकल रहा था। सम्भवतः मेरे घर को बन्द पाकर वह लौटा जा रहा था। 'कुछ लेगा मेम साहब'–दुर्भाग्य का मारा चीनी। उसे क्या पता कि यह सम्बोधन मेरे मन में रोष की सब से तुंग तरंग उठा देता है। मइया, माता, जीजी, दिदिया, बिटिया आदि न जाने कितने सम्बोधनों से मेरा परिचय है और सब मुझे प्रिय हैं, पर यह विजातीय सम्बोधन मानो सारा परिचय छीन कर मुझे गाउन में खड़ा कर देता है। इस सम्बोधन के उपरान्त मेरे पास से निराश होकर न लौटना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

मैंने अवज्ञा से उत्तर दिया 'मैं विदेशी–फॉरेन–नहीं खरीदती।' 'हम फॉरेन है ? हम तो चाइना से आता है' कहने वाले के कण्ठ में सरल विस्मय के साथ उपेक्षा की चोट से उत्पन्न चोट भी थी। इस बार रुक कर, उत्तर देने वाले को ठीक से देखने की इच्छा हुई। धूल से मटमैले सफेद किरमिच के जूते में छोटे पैर छिपाये, पतलून और पैजामे का सम्मिश्रित परिणाम जैसा पैजामा और कुरते तथा कोट की एकता के आधार पर सिला कोट पहने, उधडे हुए किनारों से पुरानेपन की घोषणा करते हुए हैट से आधा माथा ढके, दाढी–मूंछ विहीन दुबली नाटी जो मूर्ति खडी थी वह तो शाश्वत चीनी है। उसे सबसे अलग करके देखने का प्रश्न जीवन में पहली बार उठा।

मेरी उपेक्षा से उस विदेशीय को चोट पहुँची यह सोच कर मैंने अपनी 'नहीं' को और अधिक कोमल बनाने का प्रयास किया 'मुझे कुछ नहीं चाहिए भाई!' चीनी भी विचित्र निकला 'हम को भाय बोला है तब जरूल लेगा, जरूल लेगा–हां?' होम करते हाथ जला वाली कहावत हो गई। विवश कहना पडा 'देखूं तुम्हारे पास है क्या ?' चीनी बरामदे में कपडे का गट्ठर उतारता हुआ कह चला 'भोत अच्चा सिल्क लाता है सिस्तर! चाइना सिल्क, क्रेप'......बहुत कहने सुनने के उपरान्त दो मेजपोश खरीदना आवश्यक हो गया। सोचा–चलो छुट्टी हुई। इतनी कम बिक्री होने के कारण चीनी अब कभी इस ओर आने की भूल न करेगा।

पर कोई पन्द्रह दिन बाद वह बरामदे में अपनी गठरी पर बैठ कर गज़ को फ़र्श पर बजा बजा कर गुनगुनाता हुआ मिला। मैंने उसे कुछ बोलने का अवसर न देकर व्यस्त भाव से, कहा–'अब तो मैं कुछ न लूंगी। समझे?' चीनी खड़ा होकर जेब से कुछ निकालता हुआ प्रफुल्ल मुद्रा से बोला 'सिस्तर का वास्ते हेंकी लाता है–भोत बेस्त, सब सेल हो गया। हम इस को पाकेत में छिपाके लाता है।'

देखा कुछ रूमाल थे। ऊदी रंग के डोरे से भरे हुए किनारों का हर घुमाव और कोनों में उसी रंग से बने नन्हे फूलों की प्रत्येक पंखुडी चीनी नारी की कोमल उँगलियों की कलात्मकता ही नहीं व्यक्त कर रही थी जीवन के अभाव की करुण कहानी भी कह रही थी। मेरे मुख के निषेधात्मक भाव को लक्ष्य कर अपनी नीली रेखाकृति आंखों को जल्दी जल्दी बन्द करते और खोलते हुए वह एक सांस में 'सिस्तर का वास्ते लाता है, सिस्तर का वास्ते लाता है,' दोहराने तिहराने लगा।

मन में सोचा अच्छा भाई मिला है। बचपन में मुझे लोग चीनी कह कर चिढ़ाया करते थे। सन्देह होने लगा उस चिढ़ाने में कोई तत्त्व भी रहा होगा। अन्यथा आज यह सचमुच का चीनी, सारे इलाहाबाद को छोड़कर मुझसे बहन का सम्बन्ध क्यों जोड़ने आता! पर उस दिन से चीनी को मेरे यहाँ जब–तब आने का विशेष अधिकार प्राप्त हो गया। चीन का साधारण श्रेणी का व्यक्ति भी कला के सम्बन्ध में विशेष अभिरुचि रखता है इस का पता भी उसी चीनी की परिष्कृत रुचि में मिला।

नीली दीवारपर किस रंग के चित्र सुन्दर जान पड़ते हैं, हरे कुशन पर किस प्रकार के पक्षी अच्छे लगते हैं, सफेद पर्दे के कोनों में किस बनावट के फूल–पत्ते खिलेंगे आदि के विषय में चीनी उतनी ही जानकारी रखता था जितनी किसी अच्छे कलाकार में मिलेगी। रंग से उसका अति परिचय यह विश्वास उत्पन्न कर देता था कि वह आंखों पर पट्टी बांध देने पर भी केवल स्पर्श से रंग पहचान लेगा।

चीन के वस्त्र, चीन के चित्र आदि की रंगमयता देखकर भ्रम होने लगता है कि वहाँ की मिट्टी का हर कण भी इन्हीं रंगों से रंगा हुआ। न हो। चीन देखने को इच्छा प्रकट करते ही 'सिस्तर का वास्ते हम चलेगा' कहते कहते चीनी की आंखों की नीली रेखा प्रसन्नता से उजली हो उठती थी।

अपनी कथा सुनाने के लिए भी वह विशेष उत्सुक रहा करता था पर कहने सुननेवाले के बीच की खाई बहुत गहरी थी। उसे चीनी और बर्मी भाषाएँ आती थीं जिन के सम्बन्ध में अपनी सारी विद्या-बुद्धि के साथ में 'आंखों के अन्धे नाम नैनसुख' की कहावत चरितार्थ करती थी। अंग्रेजी की क्रियाहीन संज्ञायें और हिन्दुस्तानी की संज्ञाहीन क्रियाओं के सम्मिश्रण से जो विचित्र भाषा बनती थी उस में कथा का सारा मर्म बँध नहीं पाता था। पर ज़ो कथाएँ हृदय का बाँध तोड़कर, दूसरों को अपना परिचय देने के लिए बह निकलती हैं वे प्रायः करुण होती हैं और करुणा की भाषा शब्दहीन रहकर भी बोलने में समर्थ है। चीनी फेरी वाले की कथा भी इसका अपवाद नहीं।

जब उसके माता पिता ने मांडले आकर चाय की छोटी दुकान खोली तब उसका जन्म नहीं हुआ था। उसे जन्म देकर और सात वर्ष की बहन के संरक्षण में छोड़कर जो परलोक सिधारी उस अनदेखी मां के प्रति चीनी की श्रद्धा अटूट थी।

सम्भवतः मा ही ऐसा प्राणी है जिसे कभी न देख पाने पर भी मनुष्य ऐसे स्मरण करता है जैसे उसके सम्बन्ध में कुछ जानना बाकी नहीं। यह स्वाभाविक भी है।

मनुष्य को संसार से बांधने वाला विधाता मा ही है, इसी से उसे न मान कर संसार को न मानना सहज है पर संसार को मान कर उसे न मानना असम्भव ही रहता है।

पिता ने जब दूसरी बर्मी चीनी स्त्री को गृहिणी-पद पर अभिषिक्त किया तब उन मातृहीनों की यातना की कठोर कहानी आरम्भ हुई।

दुर्भाग्य इतने से ही संतुष्ट नहीं हो सका क्योंकि उसके पांचवें वर्ष में पैर रखते न रखते एक दुर्घटना में पिता ने भी प्राण खोये।

अन्य अबोध बालकों के समान उसने सहज ही अपनी परिस्थितियों से समझौता कर लिया, पर बहन और विमाता में किसी प्रस्ताव को लेकर जो वैमनस्य बढ़ रहा था वह इस समझौते को उत्तरोत्तर विषाक्त बनाने लगा। किशोरी बालिका की अवज्ञा का बदला उसी को नहीं, उसके अबोध भाई को कष्ट दे कर भी चुकाया जाता था। अनेक बार उसने ठिठुरती हुई बहन की कम्पित उँगलियों में अपना हाथ रख, उसके मलिन वस्त्रों में अपना आंसुओं से धुला मुख छिपा और उसकी छोटी सी गोद में सिमट कर भूख भुलाई थी। कितनी ही बार सबेरे, आंख मूंद कर बन्द द्वार के बाहर दीवार से टिकी हुई बहन की ओर से गीले बालों में, अपनी ठिठुरी हुई उँगलियों को गर्म करने का व्यर्थ प्रयास करते हुए, उसने पिता के पास जाने का रास्ता पूछा था। उत्तर में बहन के फीके गाल पर चुपचाप ढुलक आने वाले आंसू की बडी बूंद देख कर वह घबराकर बोल उठा था—उसे कहवा नहीं चाहिए वह तो पिता को देखना भर चाहता है।

कई बार पडोसियों के यहां रकाबियां धोकर और काम के बदले भात मांग कर बहन ने भाई को खिलाया था। व्यथा की कौन सी अन्तिम मात्रा ने बहन के नन्हे हृदय का बांध तोड़ डाला इसे अबोध बालक क्या जाने। पर एक रात उसने बिछौने पर लेट कर बहन की प्रतीक्षा करते करते आधी आंख खोली और विमाता को कुशल बाजीगर की तरह, मैली कुचैली बहन का कायापलट करते देखा। उसके सूखे ओठों पर विमाता की मोटी उँगली ने दौड़ दौड़ कर लाली फेरी, उसके फीके गालों पर चौडी हथेली ने घूम घूम कर सफेद गुलाबी रंग भरा, उसके रूखे बालों को कठोर हाथों ने घेर घेर कर सँवारा और तब नये रंगीन वस्त्रों में सजी हुई उस मूर्त्ति को एक प्रकार से ठेलती हुई विमाता रात के अन्धकार में बाहर अन्तर्हित हो गई।

बालक का विस्मय भय में बदल गया और भय ने रोने में शरण पाई—कब वह रोते रोते सो गया इसका पता नहीं, पर जब वह किसी के स्पर्श से जागा तो बहन उस गठरी बने हुए भाई के मस्तक पर मुख रख कर सिसकियां रोक रही थी। उस दिन उसे अच्छा भोजन मिला, दूसरे दिन कपड़े, तीसरे दिन खिलौने-पर बहन के दिनों दिन विवर्ण होने वाले ओठों पर अधिक गहरे रंग की आवश्यकता पड़ने लगी, उसके उत्तरोत्तर फीके पड़ने वाले गालों पर देर तक पाउडर मला जाने लगा।

बहन के छीजते शरीर और घटती शक्ति का अनुभव बालक करता था, पर वह किससे कहे, क्या करे, यह उसकी समझ के बाहर की बात थी। बार बार सोचता था, पिता का पता मिल जाता तो सब ठीक हो जाता। उसके स्मृति पट पर मा की कोई रेखा नहीं, परन्तु पिता का जो अस्पष्ट चित्र अंकित था उससे उनके स्नेहशील होने में सन्देह नहीं रह जाता। प्रतिदिन निश्चय करता कि दूकान में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से पिता का पता पूछेगा और एक दिन चुपचाप उनके पास पहुँच और उसी तरह चुपचाप उन्हें घर लाकर खड़ा कर देगा-तब यह विमाता कितनी डर जाएगी और बहन कितनी प्रसन्न होगी!

चाय की दूकान का मालिक अब दूसरा था, परन्तु पुराने मालिक के पुत्र के साथ उसके व्यवहार में सहृदयता कम नहीं रही, इसीसे बालक एक कोने में सिकुड़ कर खड़ा हो गया और आनेवालों से हकला हकला कर पिता का पता पूछने लगा। कुछ ने उसे आश्चर्य से देखा, कुछ मुस्करा दिये, पर दो एक ने दूकानदार से कुछ ऐसी बात कही जिससे वह बालक को हाथ पकड़कर बाहर ही नहीं छोड़ आया, इस भूल की पुनरावृत्ति होने पर विमाता से दण्ड दिलाने की धमकी भी दे गया। इस प्रकार उसकी खोज का अन्त हुआ।

बहन का सन्ध्या होते ही कायापलट, फिर उसका आधी रात बीत जाने पर भारी पैरों से लौटना, विशाल शरीरवाली विमाता का जंगली बिल्ली की तरह हलके पैरों से बिछौने से उछल कर उतर आना, बहन

के शिथिल हाथों से बटुए का छिन जाना और उसका भाई के मस्तक पर मुख रखकर स्तब्ध भाव से पड़ रहना आदि क्रम ज्यों के त्यों चलते रहे।

पर एक दिन बहन लौटी ही नहीं। सवेरे विमाता को कुछ चिन्तित-भाव से उसे खोजते देख बालक सहसा किसी अज्ञात भय से सिहर उठा। बहन—उसकी एकमात्र आधार बहन। पिता का पता न पा सका और अब बहन भी खो गई। वह जैसा था वैसा ही बहन को खोजने के लिए गली गली में मारा मारा फिरने लगा। रात में वह जिस रूप में परिवर्तित हो जाती थी उसमें दिन को उसे पहचान सकना कठिन था, इसीसे वह जिसे अच्छे कपडे पहने हुए जाता देखता उसी के पास पहुँचनें के लिए सड़क के एक ओर से दूसरी ओर दौड़ पड़ता। कभी किसी से टकरा कर गिरते गिरते बचता, कभी किसी से गाली खाता, कभी कोई दया से प्रश्न कर बैठता—क्या इतना ज़रा सा लड़का भी पागल हो गया है ?

इसी प्रकार भटकता हुआ वह गिरहकटों के गिरोह के हाथ लगा और तब उसकी दूसरी शिक्षा आरम्भ हुई। जैसे लोग कुत्ते को दो पैरों से बैठना, गर्दन ऊँची कर खड़ा होना, मुँह पर पंजे रख कर सलाम करना आदि करतब सिखाते हैं उसी प्रकार वे सब उसे तम्बाखू के धुएँ और दुर्गन्धित सांस से भरे और फटे चिथडे, टूटे बरतन और मैले शरीरों से बसे हुए कमरे में बन्द कर कुछ विशेष संकेतों और हँसने रोने के अभिनय में पारंगत बनाने लगे।

कुत्ते के पिल्ले के समान ही वह घुटनों के बल खड़ा रहता और हँसने रोने की विविध मुद्राओं का अभ्यास करता। हँसी का स्रोत इस प्रकार सूख चुका था कि अभिनय में भी वह बार बार भूल करता और मार खाता। पर क्रन्दन उसके भीतर इतना अधिक उमड़ा रहता था कि ज़रा मुँह बनाते ही दोनो आँखों से दो गोल गोल बूँदें नाक के दोनों ओर निकल आतीं और पतली समानान्तर रेखा बनाती और मुँह के दोनों

सिरों को छूती हुई ठुड्ढी के नीचे तक चली जातीं। इसे अपनी दुर्लभ शिक्षा का फल समझकर, रोओं से काले उदर पर पीला सा रग बाँधने वाला उसका शिक्षक प्रसन्नता से उछल कर उसे एक लात जमा कर पुरस्कार देता।

वह दल बर्मी, चीनी,श्यामी आदि का सम्मिश्रण था इसीसे 'चोरों की बरात में अपनी अपनी होशयारी' के सिद्धान्त का पालन बडी सतर्कता से हुआ करता। जो उस पर कृपा रखते थे उनके विरोधियों का सन्देहपात्र होकर पिटना भी उसका परम कर्तव्य हो जाता था। किसी की कोई वस्तु खाते ही उस पर सन्देह की ऐसी वृष्टि आरम्भ होती कि बिना चुराये ही वह चोर के समान कांपने लगता और तब उस 'चोर के घर छिछोर' की जो मरम्मत होती थी उसका स्मरण करके चीनी की आंखें आज भी व्यथा और अपमान से धक धक जलने लगती थीं।

सबके खाने के पात्र मे बचा उच्छिष्ट एक तामचीनी के टेढे मेढे बरतन में, सिगार से जगह जगह जले हुए काग़ज़ से ढककर रख दिया जाता था जिसे वह हरी आंखों वाली काली बिल्ली के साथ मिलकर खाता था।

बहुत रात गए तक उसके नरक के साथी एक एक कर आते रहते और अंगीठी के पास सिकुड़ कर लेटे हुए बालक को ठुकराते हुए निकल जाते। उनके पैरों की आहट को पढ़ने का उसे अच्छा अभ्यास हो चला था। जो हलके पैरों को जल्दी जल्दी रखता हुआ आता है उसे बहुत कुछ मिल गया है, जो शिथिल पैरों को घसीटता हुआ लौटता है वह ख़ाली हाथ है, जो दीवार को टटोलता हुआ लड़खड़ाते पैरों से बढ़ता है वह शराब में सब खोकर बेसुध आया है, जो देहली से ठोकर खाकर धम धम पैर रखता हुआ घूमता है उसने किसी से झगडा मोल ले लिया है, आदि का ज्ञान उसे अनजान में ही प्राप्त हो गया था।

यदि दीक्षान्त संस्कार के उपरान्त विद्या के उपयोग का श्रीगणेश होते ही उसकी भेंट पिता के परिचित एक चीनी व्यापारी से न हो जाती तो इस साधना से प्राप्त विद्वत्ता का क्या अन्त होता, यह बताना कठिन है। पर संयोग ने उसके जीवन की दिशा को इस प्रकार बदल दिया कि वह कपड़े की दूकान पर व्यापारी की विद्या सीखने लगा।

प्रशंसा के पुल बांधते बांधते वर्षों पुराना कपड़ा सबसे पहले उठा लाना, गज़ से इस तरह नापना कि बराबर भी आगे न बढ़े चाहे अंगुल भर पीछे रह जाय, रुपये से लेकर पाई तक को खूब देखभाल कर लेना और लौटाते समय पुराने खोटे पैसे विशेष रूप से खनका खनका कर दे डालना आदि का ज्ञान कम रहस्यमय नहीं था। पर मालिक के साथ भोजन मिलने के कारण बिल्ली के संग उच्छिष्ट सहभोज की आवश्यकता नहीं रही और दूकान में सोने की व्यवस्था होने से अंगीठी के पास ठोकरों से पुरस्कृत होने की विवशता जाती रही। चीनी छोटी अवस्था में ही समझ गया था कि धन-संचय से सम्बन्ध रखने वाली सभी विद्यायें एक सी हैं, पर मनुष्य किसी का प्रयोग प्रतिष्ठापूर्वक कर सकता है और किसी का छिपा कर।

कुछ अधिक समझदार होने पर अपनी अभागी बहन को ढूंढने का बहुत प्रयत्न किया, पर उसका पता न पा सका। ऐसी बालिकाओं का जीवन ख़तरे से खाली नहीं रहता। कभी वे मूल्य देकर ख़रीदी जाती हैं और कभी बिना मूल्य के ग़ायब कर दी जाती हैं। कभी वे निराश होकर आत्म-हत्या कर लेती हैं और कभी शराबी ही नशे में उन्हें जीवन से मुक्त कर देते हैं। उस रहस्य की सूत्रधारिणी विमाता भी सम्भवतः पुनर्विवाह कर किसी और को सुखी बनाने के लिए कहीं दूर चली गई थी। इस प्रकार उस दिशा में खोज का मार्ग ही बन्द हो गया।

इस बीच में मालिक के काम से चीनी रंगून आया, फिर दो वर्ष कलकत्ते में रहा और तब अन्य साथियों के साथ उसे इस ओर आने

का आदेश मिला। यहां शहर में एक चीनी जुते वाले के घर ठहरा है और सवेरे आठ से बाहर और दो से छ: बजे तक फेरी लगाकर कपड़े बेचता रहता है।

चीनी की दो इच्छायें हैं,ईमानदार बनने की और बहन को ढूंढ लेने की-जिनमें से एक की पूर्ति तो स्वयं उसी के हाथ में है और दूसरी के लिए वह प्रतिदिन भगवान बुद्ध से प्रार्थना करता है।

बीच बीच में वह महीनों के लिए बाहर चला जाता था पर लौटते ही 'सिस्तर का वास्ते ई लाता है' कहता हुआ कुछ लेकर उपस्थित हो जाता। उस प्रकार उसे देखते देखते में इतनी अभ्यस्त हो चुकी थी कि जब एक दिन वह 'सिस्तर का वास्ते' कहकर और शब्दों की खोज करने लगा तब में उसकी कठिनाई न समझ कर हंस पड़ी। धीरे धीरे पता चला-बुलाबा आया है, वह लड़ने के लिए चाइना जायगा। इतनी जल्दी कपड़े कहां बेचे और न बेचने पर मालिक को हानि पहुंचा कर बेईमान कैसे बने! यदि मैं उसे आवश्यक रुपया देकर सब कपड़े ले लूं तो वह मालिक का हिसाब चुकता कर तुरन्त देश की ओर चल दे।

किसी दिम पिता का पता पूछने जाकर वह हकलाया था-आज भी संकोच से हकला रहा था। मै सोचने का अवकाश पाने के लिये प्रश्न किया 'तुम्हारे तो कोई है ही नहीं फिर बुलावा किसने भेजा?' चीनी की आंखें विस्मय से भरकर पूरी खुल गई-' हम कब बोला हमारा चाइना नहीं है? हम कब ऐसा बोला सिस्तर?' मुझे स्वयं अपने प्रश्न पर लज्जा आई; उसका इतना बड़ा चीन रहते वह अकेला कैसा होगा!

मेरे पास रुपया रहना ही कठिन है, अधिक रुपये की चर्चा ही क्या पर कुछ अपने पास खोज ढुंढ़ कर और कुछ दूसरों से उधारलेकर मैंने चीनी के जाने का प्रबन्ध किया। मुझे अन्तिम अभिवादन कर जब वह चञ्चल पैरों से जाने लगा तब मेंने पुकार कर कहा 'यह गज ती लेते

।।ओ'—चीनी सहज स्मित के साथ घूमकर 'सिस्तर का वास्ते' ही कह सका। शेष शब्द उसके हकलाने में खो गए।

और आज कई वर्ष होचुके हैं—चीनी को फिर देखने की सम्भावना नहीं, उसकी बहन से मेरा कोई परिचय नहीं, पर न जाने क्यों वे दोनों भाई बहिन मेरे स्मृति-पट से हटते ही नहीं।

चीनी की गठरी में से कई थान मैं अपने ग्रामीण बालकों के कुरते बना बनाकर खर्च कर चुकीहूँ, परन्तु अब भी तीन थान मेरी अलमारी में रखे हैं और लोहे का गज़ दीवार के कोने में खड़ा है। एक बार जब इन थानों को देखकर एक खादी-भक्त बहन ने आक्षेप किया था 'जो लोग बाहर से विशुद्ध खद्दरधारी होते हैं वे भी विदेशी रेशय के थान ख़रीदकर रखते हैं, इसी से तो देश की उन्नति नहीं होती' तब मैं बड़े कष्ट से हँसी रोक सकी थी।

वह जन्म का दुखियारा मातृ-पितृहीन और बहन से बिछुड़ा हुआ चींनी भाई अपने समस्त स्नेह के एकमात्र आधार चीन में पहुँचने का आत्मतोप पा गया है, इसका कोई प्रमाण नहीं—पर मेरा मन यही कहता है।

१७–अवशेष

श्रीयुत रघुवीर सिंह

महान् मुग़ल-सम्राट् अकबर का प्यारा नगर———आगरा———आज मृतप्राय-सा हो रहा है। उसके ऊबड़-खाबड़ धूल भरे रास्तों और उन तंग गलियों में यह स्पष्ट देख पड़ता है कि किसी समय यह नगर भारत के उस विशाल समृद्धिपूर्ण साम्राज्य की राजधानी रहा था ; किन्तु ज्यों-ज्यों उसका तत्कालीन नाम "अकबराबाद" भूलता गया त्यों-त्यों उसकी वह समृद्धि भी विलीन होती गई। इस नगरी के वृद्ध क्षीण-हृदय जुमा मसजिद में अब भी जीवन के कुछ चिन्ह देख पड़ते हैं, किन्तु इसका बहुत कुछ श्रेय मुस्लिम काल की उन मृतात्माओं को है, अपने अंचल में समेट कर भी विकराल मृत्यु जिनको मानव समाज के स्मृति-संसार से सर्वदा के लिए निर्वासित नहीं कर सकी ; काल के क्रूर हाथों उनका नश्वर शरीर नष्ट हो गया, सब कुछ लोप हो गया, किन्तु स्मृतिलोक में आज भी उनका पूर्ण स्वरूप विद्यमान है।

मुग़ल साम्राज्य भंग हो गया किन्तु फिर भी उन दिनों की स्मृतियाँ आगरा के वायुमण्डल में रम रही हैं। ज़मीन से मीलों ऊँची हवा में आज भी ऐश्वर्यविलास की मादक सुगन्ध भग्न प्रेम या मृत आदर्शों पर बहाए गए आँसुओं की बाष्प, तथा उच्छ्वासों और उसासों से तप्त वायु फैला हुआ है। भग्न मानव प्रेम की वह समाधि मुग़ल-साम्राज्य के आहत यौवन का वह स्मारक, ताज, आज भी अपने आँसुओं से तथा अपनी आहों से आगरा के वायुमण्डल को वाष्पमय कर रहा है। आज भी उस चिरविरही प्रेमी के आँसुओं का सोता यमुना नदी में आकर

अदृश्य रूप से मिलता है। ताज में दफ़नाए गए मुग़ल-सम्राट् के तड़पते हुए युवा-हृदय की धुकधुकाहट से यमुना के वक्ष-स्थल पर छोटी-छोटी तरंगें उठती हैं, और दूर-दूर तक उसके निश्वासों की मरमर ध्वनि आज भी सुन पडती है। कठोर भाग्य के सम्मुख सुकोमल मानव हृदय की विवशता को देख कर यमुना भी हताश हो जाती है, ताज के पास पहुँचते-पहुँचते बल खा जाती है, उस समाधि को छूकर तो उसका हृदय द्रवीभूत हो जाता है, आँसुओं का प्रवाह उमड़ पड़ता है, वह सीधा बह निकलता है।

आगरे का वह उन्नत क़िला अपने गत यौवन पर इतरा-इतरा कर रह जाता है। प्रातःकाल बाल सूर्य की आशामयी किरणें जब उस रक्तवर्ण क़िले पर गिरती हैं, तब वह चौंक उठता है। उस स्वर्ण प्रभात में वह भूल जाता है कि अब उसके उन गौरवपूर्ण दिनों का अन्त हो गया है, और एक बार पुनः पूर्णतया कान्तियुक्त हो जाता है। किन्तु कुछ ही समय में उसका सुख-स्वप्न भंग हो जाता है, उसकी वह ज्योति और उसका वह सुखमय उल्लास, उदासी तथा निराशापूर्ण सुनसान वातावरण में परिणत हो जाते हैं। आशापूर्ण हर्ष से दमकते हुए उस उज्ज्वल रक्तवर्ण मुख पर पतन की स्मृति-छाया फैलाने लगती है। और दिवस भर के उत्थान के बाद सन्ध्या समय अपने पतन पर क्षुब्ध मरीचिमाली जब प्रतीची के पादप-पुंज में अपना मुख छिपाने को दौड़ पड़ते हैं और बिदा होने से पूर्व अश्रुपूर्ण नेत्रों से जब वे उस अमर करुण कहानी की ओर एक निराशापूर्ण दृष्टि डालते हैं, तब तो वह पुराना क़िला रो पड़ता है, और अपने लाल-लाल मुख पर, जहाँ आज भी सौन्दर्यपूर्ण विगत यौवन की झलक देख पड़ती है, अन्धकार का काला घूंघट खींच लेता है।

वर्तमानकालीन दशा पर ज्यों ही आत्मविस्मृति का पट गिरता है, अन्तःचक्षु खुल जाते हैं और पुनः पुरानी स्मृतियाँ ताज़ी हो जाती हैं, उस पुराने रंगमञ्च पर पुनः उस विगत जीवन का नाटक देख पड़ता

है। सुन्दर सुम्मन बुर्ज को एक बार फिर उस दिन की याद आ जाती है, जब दुःख और करुणापूर्ण वातावरण में मृत्युशय्या पर पड़ा कैदी शाहजहाँ ताज को देख देख कर उसासें भर रहा था। जहानआरा अपने सम्मुख निराशापूर्ण निस्संग करुण जीवन के भीषण तम को आते देखकर रो रही थी, जब उनके एकमात्र साथी, श्वेत पत्थरों तक के पाषाण-हृदय पिघल गए थे और जब वह रत्नखचित बुर्ज भी रोने लगा था, उसके आँसू ढुलक-ढुलककर ओस की बूँदों के रूप में इधर-उधर बिखर रहे थे।

और वह मोती मसजिद, लाल–लाल किले का वह उज्ज्वल मोती.. आज वह भी खोखला हो गया। उसका ऊपरी आवरण, उसकी चमक-दमक वैसी ही है किन्तु उसकी वह आभा अब लुप्त हो गई। उसका वह रिक्त भीतरी भाग धूलि-धूसरित हो रहा है, और आज एकाध व्यक्ति के अतिरिक्त उस मसजिद में परमपिता का भी नामलेवा नहीं मिलता। प्रति दिन सूर्य पूर्व से पश्चिम को चला जाता है, सारे गिना तपने के बाद सन्ध्या हो जाती है, सिहर-सिहर कर वायु बहती है, किन्तु ये श्वेत प्रस्तर-खण्ड सुनसान अकेले ही खड़े अपने दिन गिना करते हैं। उस निर्जन स्थान में एकाध व्यक्ति को देख कर ऐसा अनुमान होता है कि उन दिनों यहाँ आनेवाले व्यक्तियों में से किसी की आत्मा अपनी पुरानी स्मृतियों के बन्धन में पड़ कर खिंची चली आई है। प्रार्थना के समय 'मुअज्ज़न' की आवाज़ सुनकर यही प्रतीत होता ह कि शताब्दियों पहले गुंजने वाली हलचल, चहल-पहल तथा शोरगुल की प्रतिध्वनि आज भी उस सुन्दर परित्यक्त मसजिद में गूंज रही है।

उस लाल लाल किले में मोती मसजिद, खास महल आदि श्वेत भव्य भवनों को देख कर यही प्रतीत होता है कि अपने प्रेमी की, अपने संरक्षक की मृत्यु से उदासीन होकर इस किले को वैराग्य हो गया, अपने अरुण शरीर पर शोयत भस्म रमा ली। उस महान् किले का यह वैराग्य, उस जीवनपूर्ण स्थान की यह निर्जनता, ऐश्वर्य-विलास से भरपूर सोते में यह उदासी, और उन रंग-बिरंगे, चित्रित तथा सजे-सजाए

महलों का यह नग्न स्वरूप ...साधारण दर्शकों तक के हृदयों को हिला देता है, तब क्यों न वह किला संन्यास ले ले! संन्यास, संन्यास...तभी तो चिरसहचरी यमुना को भी इसने लात लगा कर दूर हटा दिया, ठुकराकर अपने से विलग किया, और अपने सारे बाह्य द्वार बन्द कर लिए। अब तो इनी-गिनी बार ही उसके नेत्र-पटल खुलते हैं, संसार को दो नजर देख कर पुनः समाधिस्थ हो जाता है वह किला। उस दुःखी दिल को सताना, उस निर्जन स्थान को फिर मनुष्य की याद दिलाना...भाई! सम्हल कर जाना वहाँ; वहाँ के वे क्षुधित पाषाण, वह प्यासी भूमि...न जाने कितनी आत्माओं को निगल कर, न जाने कितनों के यौवन को कुचल कर, एवं न जाने कितनों के दिलों को छिन्न-भिन्न कर के उनके जीवन-रस को पीकर भी तृप्त नहीं हुई; आज भी वह आप के आंसुओं को पीने के लिए, कुछ क्षणों के लिए ही क्यों न हो आप की सुखद घड़ियों को भी विनष्ट करने को उतारू हो।

उस किले का वह लाल-लाल जहाँगीरी महल—सुरा, सुन्दरी और संगीत के उस अनन्य उपासक की वह विलास भूमि—आज भी वह यौवन की लाली से रंगा हुआ है। प्रति दिन अन्धकारपूर्ण रात्रि में जब भूतकाल की यवनिका उठ जाती है, तब पुनः उन दिनों का नाट्य होता देख पड़ता है, जब अनेकों की वासनाएँ अतृप्त रह जाती थीं, कइयों की जीवन-घड़ियाँ निराशा के ही अन्धकारमय वातावरण में बीत जाती थीं, और जब प्रेम के उस वालुकामय शान्ति-जल-विहीन ऊसर में पड़े-पड़े अनेकों उसकी गरमी के मारे तड़पते थे। उस सुनसान परित्यक्त महल में रात्रि के समय सुन पड़ती हैं उल्लासपूर्ण हास्य तथा विषादमय करुण क्रन्दन की प्रतिध्वनियाँ। वे अशान्त आत्माएँ आज भी उन वैभवविहीन खण्डहरों में घूमती हैं और सारी रात रो-रोकर अपने अपार्थिव अश्रुओं से उन पत्थरों को लथपथ कर देती हैं। किन्तु जब धीरे-धीरे पूर्व में अरुण की लाली देख पड़ती है, आसमान पर स्वच्छ नीला-नीला परदा पड़ने लगता है तब पुनः इन महलों में

वही सन्नाटा छा जाता है और निस्तब्धता का एकछत्र साम्राज्य हो जाता है। उन मृतात्माओं की यदि कोई स्मृति शेष रह जाती है तो उनके वे बिखरे हुए अश्रुकण, किन्तु क्रूर काल उन्हें भी सुखा देना चाहता है। यहाँ की शान्ति यदि कभी भंग होती है तो केवल दर्शकों की पद-ध्वनि से तथा 'गाइडों' की टुटी-फूटी अंग्रेजी शब्दावली द्वारा। रात और दिन में कितना अन्तर होता है! विस्मृति के पट के इधर और उधर...एक ही पट की दूरी, वास्तविकता और स्वप्न, भूत तथा वर्तमान...कुछ ही क्षणों की देरी और हज़ारों वर्षों का-सा भेद...कुछ भी समझ नहीं पड़ता कि यह है क्या।

उस मृतप्राय किलें के अब केवल कंकालावशेष रह गए हैं; उसका हृदय भी बाहर निकल पड़ा हो ऐसा प्रतीत होता है। नक्षत्र-खचित आकाश के चन्दवे के नीचे पड़ा है वह काले पत्थर का टूटा हुआ सिंहासन, जिस पर किसी समय गुदगुदे मखमल का आवरण छाया हुआ होगा; और जिस पत्थर तक को सुशोभित करने के लिए, जिसे सुसज्जित बनाने के वास्ते अनेकानेक प्रयत्न किए जाते थे, आज उसी की यह दशा है। वह पत्थर है, किन्तु उसमें भी भावुकता थी, वह काला है, किन्तु फिर भी उसमें प्रेम का शुद्ध स्वच्छ सोता बहता था। अपने निर्माता के वंशजों का पूर्ण पतन तथा उनके स्थान पर छोटे-छोटे नगण्य शासकों को सिर उठाते देख कर जब इस किले ने वैराग्य ले लिया, अपने यौवनपूर्ण रक्तमय गात्रों पर भगवाँ डाल लिया शरीर पर भस्म रमा ली, तब तो उसका वह छोटा हृदय भी क्षुब्ध हो कर तड़प उठा, अपने आवरणों में से बाहर निकल पड़ा, वह बिचारा भी रो दिया। वह पत्थर-हृदय भी अन्त में विदीर्ण हो गया और उसमें से भी रक्त की दो बूंदें टपक पडीं। मुग़लों के पतन को देख कर पत्थरों तक का दिल टूट गया, उन्होंने भी रुधिर के आँसू बहाए...... परन्तु वे मुग़ल, उन महान् सम्राटों के वे निकम्मे वंशज, ऐश्वर्य-विलास में पडे सुखनींद सो रहे थे,......उनकी वही नींद चिर निद्रा में परिणत हो गई।

और वह शीशमहल, मानव-कांचन-हृदय के टुकडों से सुशोभित वह स्थान कितना सुन्दर, दीप्तिमान् भीषण तथा साथ ही कितना रहस्यमय भी है! यौवन, ऐश्वर्य तथा राजमद से उन्मत्त सम्राटों को अपने खेल के लिअे मानव हृदय से अधिक आकर्षक वस्तु न मिली। अपने विनोद के लिअे, अपना दिल बहलाने के हेतु उन्होंने अनेकों के हृदय चकनाचूर कर डाले। भोले-भोले हृदयों के उन स्फटिक टुकडों से उन्होंने अपने विलास-भवन को सजाया। एक बार तो वह जगमगा उठा। टूट कर भी हृदय अपनी सुन्दरता नहीं खोते, उसके विपरीत रक्त से सने हुअे वे टुकडे अधिकाधिक आभापूर्ण देख पड़ते हैं। परन्तु जब साम्राज्य के यौवन की रक्तिम ज्योति विलीन हो गई, जब उस चमकते हुअे रक्त की लाली भी कालिमा में परिणत होने लगी, तब तो मानवजीवन पर कालिमामयी यवनिका डालने वाली उस कराल मृत्यु का भयंकर तमसावृत पटल उस स्थान पर गिर पड़ा; उस शीशमहल में अन्धकार ही अन्धकार छा गया।

मानव हृदय एक भयंकर पहेली है। दूसरों के लिए एक बन्द पुर्जा है; उसके भेद, उसके भावों को जानना एक असम्भव बात है। और उन हृदयों की उन गुप्त गहरी दरारों का अन्धकार,··· एक हृदय के अन्धकार को भी दूर करना कितना कठिन होता है, और विशेषतया उन दरारों को प्रकाशपूर्ण बनाना······ और यहाँ तो अनेकों मानव-हृदय थे, सैकडों हज़ारों- और उन हृदयों के टुकडे, वे सिकुडे हुए रक्त से सने खण्ड······ उन्होंने अपनी दरारों में सञ्चित अन्धकार को उस शीशमहल में उँडेल दिया। मुग़लों ने शीशमहल की सृष्टि की, और सोचा कि प्रत्येक मानव-हृदय में उन्हीं का प्रतिबिम्ब दिखाई देगा··· परन्तु यह कालिमा और मानव-हृदय की वे अनबूझ पहेलियाँ···। मुग़लों ने उमड़ते हुए यौवन में, प्रेम के प्रवाह में एक चमक देखी और उसी से सन्तुष्ट हो गए। दर्शकों को भी सम्यक् प्रकारेण बताने के लिए तथा उस अन्धकार को क्षण भर के लिए मिटाने के हेतु गन्धक जला कर आज भी ज्योति की जाती है। मुग़लों के समान दर्शक भी उन

निर्माण करने में अकबर ने अनेकानेक वस्तुकलाओं के आदर्शों का अनोखा सम्मिश्रण किया था।

ध्रुव की ओर सिर किये अकबर अपनी क़ब्र में लेटा था। एक ध्रुव को लेकर ही उसने अपने समस्त जीवन तथा सारी नीति की स्थापना की थी, और उसके उस महान् आदर्श ने, विश्व-बन्धुत्व के उस टिमटिमाते हुए ध्रुव ने, मृत अकबर को भी अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अकबर का वह छोटा-सा शव उस विशाल समाधि में भी नहीं समा सका, वह वहाँ शान्ति से न रह सका। विश्व-प्रेम तथा मानव-भ्रातृत्व के प्रचारक अकबर के अन्तिम अवशेष, वे मुठ्ठी भर हड्डियाँ भी विश्व में मिल जाना चाहती थीं। विशाल हृदय अकबर मर कर भी कठोर पत्थरों की उस विशाल, किन्तु आत्मा की दृष्टि से बहुत ही संकुचित, परिधि में नहीं समा सका। अपने अप्राप्त आदर्शों की ही अग्नि में जल कर उसकी अस्थियाँ भी भस्मसात् हो गईं, और वह भस्म वायुमण्डल में व्याप्त हो कर विश्व के कोने-कोने में समा गई। अकबर की हड्डियाँ भस्मीभूत हो गईं, परन्तु अपने आदर्शों को न प्राप्त कर सकने के कारण उस महान् सम्राट् की वह प्रदीप्त हृदय-ज्वाला आज भी बुझी नहीं है; उस मिट्टी के दीपक-रूपी हृदय में अगाध मानव-स्नेह भरा है, उसमें सदिच्छाओं तथा शुभ भावनाओं की शुद्ध श्वेत बत्ती पडी है, और वह दिया तिल-तिल कर जलता है। वह टिमटिमाती हुई लौ आज भी अकबर की समाधि पर जल रही है, और धार्मिक संकीर्णता के अन्धकार से पूर्ण, विश्व के सदृश गोल तथा विशाल गुम्बज़ में वह उस महान् आदर्श की ओर इंगित करती है, जिसको प्राप्त करने के लिए शताब्दियों पहले अकबर ने प्रयत्न किया था, और जिसे आज भी भारतीय राष्ट्र नहीं प्राप्त कर सका है।

मानव जीवन एक पहेली है, और उससे भी अधिक अनबूझ वस्तु है विधि का विधान। मनुष्य जीवन के साथ खेलता है, जीवन ही उसके लिए मनोरंजन की एकमात्र वस्तु है, और वही जीवन इस लोक में फैल कर संसार-व्यापी हो जाता है। संसार उस बिखरे हुए जीवन

को देख कर हँस देता है या ठुकरा देता है। परन्तु जीवन बीत चुकने पर जब मनुष्य उसे समेट कर इस लोक से विदा लेता है तब संसार उस विगत आत्मा के संसर्ग में आई हुई वस्तुओं पर प्रहार कर या उन्हें चूम कर समझ लेता हे कि वह उस अन्तर्हित आत्मा के प्रति अपने भाव प्रकट कर रहा है। उस मृत व्यक्ति के पाप या पुण्य का भार उठाते हैं उसके जीवन से सम्बद्ध ईंट और पत्थर, उसकी स्मृतियों के अवशेष। किसका कृत्य और किसे यह दण्ड...परन्तु यही संसार का नियम है, विधि का ऐसा ही विधान हे।

बिखरे पडे हैं मुग़ल-सम्राटों के जीवन के भग्नावशेष, उस मृत-प्राय नगरी में। जिन्होंने उस नगरी का निर्माण किया था उनका अन्त हो गया, उनका नामलेवा भी न रहा। सब कुछ विनष्ट हो गया; वह गौरव, वह ऐश्वर्य, वह समृद्धि, वह सत्ता-सब विलीन हो गए। मुग़ल-साम्राज्य के उन महान् मुग़ल-सम्राटों की स्मृतियाँ, उन स्मृतियों के वे रहे-सहे अवशेष, यत्र-तत्र बिखरे हुए वैभवविहीन वे खण्डहर, उन सम्राटों के विलास-स्थान, ऐश्वर्य के वे आगार, उनके मनोभावों के वे स्मारक......सब शताब्दियों से धूलिधूसरित हो रहे हैं, पानी-पत्थर, सरदी-गरमी की मार सह रहे हैं उन्हें निर्माण करने में, उनके निर्माताओं के लिए विलास और सुख की सामग्री एकत्र करने में, जो-जो पाप तथा सहस्रों दरिद्रियों एवं पीड़ितों के हृदयों को कुचल कर जो-जो अत्याचार किए गए थे, उन्हीं सब का प्रायश्चित्त आगरे के ये भग्नावशेष कर रहे हैं। कब जाकर यह प्रायश्चित्त सम्पूर्ण होगा, यह कौन जानता है कि कुछ बता सके।

१८–अमीर खुसरो

पद्मसिंह शर्मा

भारतवर्ष में अनेक प्रसिद्ध मुसलमान कवि; लेखक और विद्वान् हुए हैं, अमीर खुसरो उन सबके शिरोमणि थे। स्वर्गीय मौलाना 'शिबली' ने उनकी जीवनी में लिखा है :–

'हिन्दोस्तान में छै सौ बरस से आज तक इस दर्जे का सर्वगुण सम्पन्न विद्वान् नहीं पैदा हुआ, और सच पूछो, तो जिसमें इतनी विविध प्रकार की विशेषतायें हों ईरान और रूम की भूमि ने भी हजारों वर्ष की मुद्दत में दो ही चार पैदा किये होंगे।'

मिर्जा ग़ालिब की नाजुक ख़याली मशहूर है, उनकी परख और नज़र बहुत ऊँची थी, वह अमीर खुसरो के सिवाय किसी हिन्दोस्तानी फ़ारसी लेखक या कवि के क़ायल नही थे, केवल खुसरो ही को आदर्श मानते थे। उन्हों ने किसी विवादास्पद प्रसंग में अपने एक मित्र को लिखा हैं मैं अहले ज़बान का अनुयायी हूँ और हिन्दियों में सिवा अमीर खुसरो देहलवी के सब का न मानने वाला हूँ।" यही बात उन्होंने फिर एक दूसरे पत्र में लिखी है :–

"ग़ालिब कहता है कि हिन्दोस्तान के कवियों में अमीर खुसरो देहलवी के सिवा कोई माननीय प्रामाणिक विद्वान् नहीं हुआ।" ग़ालिब को जानने वाले जानते हैं कि इस सम्मति का कितना महत्व और मूल्य है। वह व्यक्ति सचमुच धन्य है जिसे ग़ालिब इस तरह सराहते हैं! फारस के विद्वानों ने भी अमीर खुसरो की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, उनकी उस्तादी के सामने सिर झुकाया है। खुसरो

फ़ारसी ही के नहीं, अन्य कई भाषाओं के भी पारंगत विद्वान् थे। गान-विद्या के भी वह आचार्य थे। उनके बनाये हुए बहुत से नये राग और रागनियाँ मशहूर हैं। बीणा का परिवर्तित रूप 'सितार' उन्हीं की ईजाद है। इसके अतिरिक्त वह एक शूर-वीर सैनिक भी थे। शस्त्र-विद्या उनकी कुल-विद्या थी। वह उम्र भर शाही दरबारों में बडे-बडे पदों पर रहे। उन्होंने ग्यारह बादशाहों को दिल्ली के तख्त पर उतरते और बैठते देखा और सात बादशाहों के स्वयं दरबारी रहे। इस प्रकार रात-दिन राज-सेवा में संलग्न रहते हुए जितनी साहित्य सेवा खुसरो ने की उसे देखकर आश्चर्य होता है। बडे-बडे एकान्त-सेवी साहित्य-सेवी भी इतना न कर सके होंगे। बाईस-तेईस ग्रन्थों के अतिरिक्त हज़ारों फुटकर पद्य भी उनके प्रसिद्ध हैं। उनके पद्यों की संख्या कई लाख लिखी है। 'तज़करए-इरफ़ान' में लिखा है--'अमीर साहब की कविता जिस कदर फ़ारसी भाषा में है उसी कदर ब्रज भाषा में।'--पर दुर्भाग्य से अमीर खुसरो की हिन्दीं कविता कुछ फुटकर पद्यों को--पहेलियों और मुकरनियों को--छोड़कर; इस समय नहीं मिलती, यद्यपि खुसरो हिन्दी कविता के नाते ही सर्वसाधारण में प्रसिद्ध हैं। खुसरो की हिन्दी कविता के विनाश का श्रेय, मुसलमानों की हिन्दी विषयक उपेक्षा ही को है। इस दुर्घटना के लिए मौलाना मुहम्मद अमीन चिड़याकोटी ने मुसलमानों को उपालम्भ दिया है ओर हिन्दुओं की गुणग्राहिता को सराहा है कि खुसरो और दूसरे मुसल्मान हिंदी कवियों की जो थोडी बहुत हिंदी कविता अब तक नष्ट होने सें बची हुई है, यह हिन्दुओं ही की कृपा का फल है। यदि आज अमीर खुसरो की हिन्दी-कविता अपने असली रूप में और पर्य्याप्त संख्या में उपलब्ध हुई होती तो उससे भाषा-साहित्य के इतिहास-ज्ञान में कितनी सहायता पहुँची होती ?

अमीर खुसरो जन्मसिद्ध कवि थे--माँ के पेट से कवि पैदा हुए थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि--'मेरे दूध के दाँत अभी न टूटे थे कि में शैर कहता था, और मुँह से कविता के मोती झड़ते थे'।--'सीर-डल्-

औलिया' और 'सीर-डल-आरफीन' में लिखा है कि अमीर खुसरो अभी पाँच ही बरस के थे कि दिल्ली गये तो उन दिनों दैवयोग चे हज़रत निजामुद्दीन औलिया का डेरा इनके नानिहाल में था। हजरत निजामुद्दीन सूफी-संप्रदाय के पक्के मुबल्ली फ़कीर थे। मुरीद बनाना यानी चेले-मूंडना इनका धार्मिक व्यवसाय था। खुसरो के पिता और नाना भी उनके भक्तों में थे। खुसरो को इसी अवस्था में इनके चरणों में चढ़ा दिया गया,—दीक्षा दिला दी गई। प्रेम-पथ की शृंगारिक-कविता का उपदेश खुसरो को इन्हीं रसिया गुरु से मिला।

खुसरो के पाँच कविता-संग्रह ग्रन्थ हैं जिनमें सबसे पहिला 'तोह-फ़तुस्सिग़िर' है। इसमें सोलह वर्ष की उम्र से उन्नीस वर्ष तक की कविताओं का संग्रह है। इसकी भूमिका में खुसरो ने अपनी कविता का मनोरंजक और शिक्षाप्रद प्रारम्भिक वर्णन किया है। लिखा है :

'ईश्वर की दया से मैंने बारह वर्ष की उम्र में बैत और रूबाई कहनी शुरू की। उस समय के कवि विद्वान सुन-सुनकर आश्चर्य प्रकट करते थे। उनकी आश्चर्यपूर्ण प्रशंसा से मेरा उत्साह बढ़ता था। वे मुझे उभारते थे। मेरी यह दशा थी कि साँझ से सबेरे तक चिराग़ के सामने कविता लिखते-लिखते पढ़ने म तल्लीन हो अभ्यास करता और मस्त रहता था। अभ्यास करते करते दृष्टि सूक्ष्म हो गई, कविता की बारीकियाँ सूझने लगीं—और कविता प्रेमी साथी मेरी बुद्धि की परीक्षा लेते थे, इससे हृदय में और भी उमंग बढ़तीं थी-दिल गरमाता था—और दिल की गरमी ज़बान में उतर कर कविता को चमकाती थी। इस समय तक कोई गुरु न मिला था, जो कविता की दुर्गम-घाटियों में कुशलता से चलने की राह बताता, क़लम को उल्टे रास्ते चलने से रोकता; दोपों से बचाकर गुणों का उत्कर्ष दिखाता। मैं नवाभ्यासी तोते की तरह अपने ही ख़याल के दर्पण के सामने बैठा-बैठा कविता का अभ्यास करता था-कविता का मर्म और कविता करना सीखता था-दिल के लोहे को अभ्यास की 'सान' पर रगड़ रगड़ कर तेज करता रहा। प्राचीन सत्कवियों के ग्रन्थों का स्वाध्याय निरन्तर करता था। इस प्रकार

कविता के मर्म को समझने लगा, भावुकता प्राप्त हो गई। 'अनवरी' और 'सयानी' की कविता को विशेष रूप से आदर्श मानकर देखता था। जो अच्छी कविता नज़र आती उसी का जवाब लिखता। जिस कवि की कविता का मनन करता, उसी के ढंग पर स्वयं लिखता। बहुत दिन तक 'ख़ाक़ानी' (ईरान के एक प्रसिद्ध कवि) की कविता से लिपटा रहा। उसकी कविता में जो ग्रन्थियाँ थीं उन्हें सुलझाता, यद्यपि उसके दुरूह स्थलों पर नोट लिखता था पर लड़कपन और नवाभ्यास के कारण कठिन कविता का भाव अच्छी तरह न खुलता था। मेरा उत्साह और कल्पना-शक्ति आकाश में उड़ती थी, पर उस्ताद ख़ाक़ानी की कविता इतनी उच्च कोटि की थी कि उस तक मेरी बुद्धि नहीं पहुँचती थी। तथापि अनुकरण करते-करते तबीयत बढ़ने लगी। मेरी कविता का कोई विशेष आदर्श नियत न था हर उस्ताद के रंग में कहता था; इसलिए इस संग्रह (तोहफ़तुसिस्ग़िर) में नया-पुराना सब रंग मौजूद है।

यह खुसरो की उस भूमिका का भावार्थ है, जो उसने अपने पहले ग्रन्थ (तोहफ़तुस्सिग़िर) पर लिखी है। इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि अमीर खुसरो को कवि-सम्राट् किस चीज ने बनाया। स्वाभाविक प्रतिभा, स्वाध्याय-शीलता, उत्साह,सम्पन्नता, निरंतर अभ्यास और लगन, यही सब बातें अमीर खुसरो को कवि-सम्राट् बनाने में कारण थीं। समझदार सोसाइटी, साथियों की छेड़छाड़, बड़ों की उत्साहवर्द्धक समालोचना, इन सब ने मिलकर उन कारणों को और कार्य-क्षम बना दिया, खुसरो की कविता को चमका दिया, फिर कद्रदान भी ऐसे मिले कि न मिले होंगे किसी को। खुसरो को कई बार कविता के पुरस्कार में हाथी बराबर तोलकर रुपए मिले थे।

अमीर खुसरो ने अपनी तरक्की का जो गुर लिखा है वह बहुत ही उपादेय है, उन्नति मार्ग के पथिकों का तोशा है। खुसरो के उन पद्यों का भाव यह है—जो कोई मेरी प्रशंसा करता है, यद्यपि वह सच हो, तो भी मैं उस पर ध्यान नहीं देता क्योंकि प्रशंसा आदमी को अभिमत्त बनाकर रास्ते से दूर हटा देती है, मिथ्या स्तुति धोखे में डालकर हानि

पहुँचाती है, जैसे नादान बच्चे गुड़ से फुसला कर ठग लिये जाते हैं। जो सचमुच कविता-रत्नपारखी हैं, उनकी निन्दा भी प्रशंसा है। मैं स्वयं अपनी कविता के गुण-दोषों पर ध्यान दृष्टि रखता हूँ, अच्छी कविता की कोई प्रशंसा न करे परवा नहीं, मैं खुद उसे सराहता हूँ।'

इस प्रकार निरंतर लगन के साथ अभ्यास करते-करते अमीर खुसरो ने वह कमाल हासिल किया कि शेख़ सादी और हाफ़िज़ जैसे 'बुलबुले-शीराज' भी इस तूतिए-हिन्द' (यह खुसरो का खिताब था) के सम्मोहन स्वर से मोहित होकर प्रशंसा करते थे। एक लेखक ने तो यहाँ तक लिखा है कि शेख़ सादी शीराजी, खुसरो से मिलने के लिए शीराज़ से दिल्ली आये थे। पर शेख़ सादी का हिन्दोस्तान में आना इतिहास से सिद्ध नहीं होता। हाँ, इस पर सब इतिहास-लेखक सहमत हैं कि जब सुलतान शहीद ने 'सादी' को शीराज़ से बुलाया, तो उन्होंने बुढ़ापे के कारण आना स्वीकार न किया और लिख भेजा कि खुसरो का सम्मान कीजिये, वह एक आदरणीय रत्न है।' उस समय खुसरो की उम्र बत्तीस के लगभग थी। इसी उम्र में सादी जैसे महाकवि से प्रशंसा का सार्टि-फ़िकेट पा जाना खुसरो की महत्ता का सूचक है।

प्रारम्भिक अवस्था में खुसरो अपनी कविता किसी कविता-गुरु को न दिखाते थे, प्राचीन महाकवियों को गुरु मान कर उन्हीं के आदर्श पर रचना करते थे। बाद में 'शहाब' को कविता-गुरु बना लिया था। 'शहाब' की 'अमीर' ने बहुत तारीफ़ की है। खुसरो ने 'निज़ामी' के जवाब में जो अपनी पाँच मसनवियाँ लिखी हैं, वे 'शहाब' की देखी शोधी हुई हैं और इसके लिए खुसरो ने अपने उस्ताद का बहुत उपकार माना है। कैसा आश्चर्य है कि उसका आज कोई नाम भी नहीं जानता, जिसे कभी कविसम्राट् अमीर खुसरो के काव्य-गुरु होने का गौरव प्राप्त था।

अपनी माता से अमीर खुसरो को अनन्य प्रेम था। बडी उम्र में भी वह इस तरह माता से मिलते थे, जैसे छोटे बच्चे माँ से मुहब्बत में लिपट जाते हैं। खुसरो ने अवध के सूबे की नौकरी का ऊँचा पद केवल

इसी कारण छोड़ दिया था कि माता दिल्ली में उन्हें याद करती थी। अवध से आकर जब दिल्ली में माँ से मिले, तो उस मुलाकात का हाल इस जोश से लिखा है, जिसके एक-एक शब्द से प्रेम का मधु टपकता है।

जब माता का देहान्त हुआ, तो खुसरो की अवस्था अड़तालीस वर्ष की थी। माता की मृत्यु के मरसिये में इस तरह विलाप किया है, जैसे छोटा बच्चा माँ के लिए बिलखता है। भाई का मरसिया भी बड़ा करुणाजनक लिखा है।

खुसरो कहीं बाहर किसी युद्ध पर थे कि पीछे अचानक कुछ आगे पीछे, माता और भाई, दोनों का एक साथ देहान्त हो गया। दोनों का मरसिया 'लैला-मजनू' मसनवी के अन्त में बड़ा ही करुणा-पूर्ण है, पढ़कर दिल पर चोट लगती है।

अमीर खुसरो के दो सन्तान थीं, एक पुत्र, एक पुत्री। पुत्र का नाम 'मलिक-अहमद' था। यह भी कवि और समालोचक थे, इन्हें कविता में तो प्रसिद्धि प्राप्त न हुई, पर अपने समय में यह समालोचना के लिए प्रसिद्ध थे। कविता-कला के पूरे मर्मज्ञ थे बड़े-बड़े कवियों की कविता में उचित संशोधन कर डालते थे जिन्हें कवि विद्वान् पसन्द करते। मलिक अहमद सुलतान फ़िरोजशाह के दरबारी थे।

खुसरो में कविता की दृष्टि से यों तो बहुत-सी विशेषताएँ हैं; पर उनकी एक विशेषता मुसल्मान लेखकों में बहुत प्रसिद्ध है, जिसका उल्लेख मौलाना आज़ाद, हाली और शिबली ने कई जगह जी खोलकर किया है। यह विशेषता खुसरो की कविता में 'भारतीयपन' की छाप है। फारसी के जितने कवि हिन्दोस्तान मे हुए, वे हिन्दू हों या मुसल्मान, भारतनिवासी हों या प्रवासी ईरानी, सारे के सारे फारस की समाँ बाँधते रहे, वह गुल और बुलबुल का ही रोना रोते रहे, हिन्दोस्तान के कमल और भौरे को, कोयल और पपीहे को, कहीं भूल कर भी उन भले आदमियों ने याद नहीं किया। ऋतुओं का वर्णन है तो वहीं की ऋतुओं का, जंगल और पहाड़ों के दृश्य हैं, तो वहीं के उपमान और

उपमेय सब वहीं के। आँख की उपमा देंगे तो 'नर्गिस' से या 'बादाम' से। भारतीय-सौन्दर्य्य की दृष्टि से यह उपमा कितनी विरूप है। इस पर शायद ही किसी उर्दू-फारसी के कवि ने ध्यान दिया हो। बहुतों ने नर्गिस को आँख से देखा भी न होगा, यह आँख का उपमान कैसे बना इसका पता भी बहुत कम कवियों को होगा। मौलाना शिबली ने लिखा है कि 'आँख की उपमा नर्गिस से प्रसिद्ध है, लेकिन नर्गिस को देखा, तो उसका फूल एक गोल सी कटोरी होती है, ईरानियों की आँखे ऐसी ही होती हैं, परन्तु भारतीयों की नहीं। खुसरो ने इन विदेशी उपमानों को नहीं अपनाया है। उनके काव्य में पूर्ण भारतीयता है।

———

१९—तीर्थ-सलिल

श्रीयुत पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

कलाधर अनंत के वक्षःस्थल पर विहार करता है। वहाँ जरा और मृत्यु का भय नहीं, मर्त्यलोक की भावना नहीं। कलाधर की ज्योत्स्ना मर्त्यलोक को ही आप्लावित करती है। महिमा-मंडल राजप्रासादों और पापमय कारागारों में वह एक ही भाव से क्रीड़ा करती है। कलाधर के समान कवि भी संकीर्णता से विमुक्त रहते है। उनकी कला देश और काल के व्यवधान को दूर कर देती है। कवि अपनी कला के द्वारा विश्व-भाव को ही खोजते और उसी को व्यक्त करते हैं। उनके भाव का अनुभव सभी जातियों के मनुष्य कर सकते हैं। उनकी वाणी सभी के सुख में, भाषा-रूप में, परिस्फुट हो सकती है। यह सच है कि कवि मनुष्य ही है, और प्रत्येक मनुष्य में उसका व्यक्तिगत और जातिगत विशेषत्व होता है। भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न कालों के भिन्न-भिन्न आचार-व्यवहार होते हैं। प्रत्येक भाषा की भी एक विशेषता होती है। कवि इन्हीं से अपने काव्य की रचना करता है, इन्हीं से अपनी कला के लिए उपकरण-संग्रह करता है। देश और काल से पृथक् विश्व-नामक किसी भी पदार्थ की कल्पना हम नहीं कर सकते। कवि कीं कला यही है कि.विशेष में भी निर्विशेष विश्व को प्रकट करता है। जो देश और काल से सीमित हैं उसी केभीतर वह शाश्वत का रूप अभिव्यक्त करता है।वह हमें सीमी में असीम के दर्शन कराता है, अनंत सत्य को मूर्तिमान् कर इंद्रिय-ग्राह्य बना कता है। कला की यही कुशलता है। कवि भले ही विदेशी नाम और रूप का वर्णन करे, वह भले ही विजातीय दृश्य को अंकित करे, परंतु हम कवि के उसी अनुभाव को ग्रहण करते हैं जो नाम और रूप

से परे है। वही कवि की मर्मवाणी है; यही कला का ध्येय है। अस्तु। प्रकृति के अनंत सौंदर्य-भंडार से कला सृष्टि होती है। परंतु कला प्रकृति सौंदर्य की प्रतिच्छाया नहीं है, वह मनुष्य के अंत.सौंदर्य का बाह्य रूप है।

जिस प्रकार कवि की कृति में उसकी आत्मा निवास करती है, उसी प्रकार प्रत्येक चित्र में चित्रकार को आत्मा लीन रहती है। प्रत्येक कला-कोविद के अतर्जगत् में देवी प्रकृति की जो आनंददायिनी मूर्ति है वही उसकी कला में प्रकट होती है। काव्य उसी की भाषा, संगीत उसी की ध्वनि और चित्र उसी की छाया है। जो शिल्पकार अपने अंतर्जगत् में उस मूर्ति का दर्शन कर लेता है, उसी के शिल्प में यथार्थ सौंदर्य रहता है। जिसका अंतःकरण मलिन है उसकी कला में सौंदर्य का विशद रूप नहीं प्रकट होगा। कला में व्यक्तित्व की यही प्रधानता है, और इसी से विभिन्नता में भी एकता है। वह है उसका मनुष्यत्व। सभी देशों और सभी कालों मे मनुष्य मनुष्य ही रहेगा। सम्राट् अपने वैभव के कारण एक दरिद्र कृषक से अवश्य बड़ा है, परंतु मनुष्यत्व के सबंध में दोनों बराबर हैं। एक पुण्यात्मा अपने चरित्र-बल से किसी भी पतित मनुष्य से उच्च स्थान प्राप्त कर सकता है; परंतु मनुष्यत्व के रूप में दोनों एक ही स्थान ग्रहण करेंगे। यही मनुष्यत्व कला का आदर्श है। वह क्या है, सो हम आगे बतलाने की चेष्टा करते हैं।

मनुष्यत्व का यथार्थ रूप देखने के लिए हमें उस मानस सरोवर का पता लगाना चाहिए, जहाँ वे सभी देशों की कलाएँ धारा में निस्सृत होती हैं। साधारणतः कला के पाँच विभाग किए जा सकते हैं—स्थापत्य, भास्कर्य, चित्रकला, संगीत और कविता। इन पाँचों में हम सौंदर्य के रूप पाते हैं। एक विराट् रूप और दूसरा कोमल रूप। एक हिमालय है, तो दूसरा मंदाकिनी। सौंदर्य के विराट् रूप में हम विराट् वासना, विराट् प्रतिहिंसा, विराट् क्षमता और विराट् आत्मत्याग देखते हैं। और उसके कोमल रूप में हम स्नेह, दया, करुणा, ममता आदि भावों की प्रधानता पाते हैं। सभी देशों और कालों की कला में हम

यही बात देखेंगे। अतएव हम यह कह सकते ह कि मनुष्यत्व में महत्ता और कोमलता, इन्हीं दो गुणों का संमिश्रण हुआ है किंतु कला की सार्थकता इन गुणों को श्रेयस्कर पथ पर ले जाना है।

अब हम यह देखना चाहते हैं कि कला-कोविदों ने सौंदर्य का आदर्श कहाँ देखा , मनुष्यों को पवित्र करने के लिए तीर्थसलिल कहाँ एकत्र किया। जब उन्होंने करुणा और स्नेह को मूर्तिमान् कर देखना चाहा, तब उसको अन्नपूर्णा के ही रूप में देखा। जब उन्होंने शक्ति को साकार सिद्ध किया, तब दुर्गा प्रकट हुई। जब उन्होंने संसार की ऋद्धि-सिद्धि, विद्या, विज्ञान और प्रेम-रूप को कहीं एकत्र किया, तब उनको लक्ष्मी और सरस्वती. वीनस, एथेना के ही स्त्रीरूप में देखा। उसी प्रकार उन्होंने शाँति को शिव, शौर्य को विष्णु और मृत्यु को यम-पुरुष के रूप में पाया। दयामयी पृथ्वी को उन्होंने स्त्री का रूप दिया, और अनंत ऐश्वर्य को इंद्र का पुरुषरूप प्रदान किया। यह प्राचीन युग की कल्पना-मात्र नहीं है। इसमें सत्य का गूढ़ तत्त्व विद्यमान है। वह तत्त्व क्या है, यह जानने के लिए हम विश्व-साहित्य के उच्च आदर्शों पर एक बार दृष्टिपात करते हैं। 'रामायण' में एक ओर प्रेम है, तो दूसरी ओर आशंका। एक ओर शौर्य है, तो दूसरी ओर प्रतिहिंसा। होमर के ' इलियड ' में, पुरुषों की उत्कट लालसा और स्त्रियों का विषाद, पुरुषों का दर्प और स्त्रियों का बलिदान, ये ही दो भाव एक साथ अंकित हुए हैं।

"महाभारत" में जिस प्रकार शौर्य, सत्य और धर्म की प्रधानता है, उसी प्रकार दर्प, विद्वेष और क्रूरता के भी निदर्शन है। शेक्सपियर के नाटकों में मानव-चरित्र का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। उसके ' किंग लियर ' में जहाँ बंधुत्व और पितृस्नेह है वहाँ अज्ञान और क्रूरता भी। ' हेमलेट ' में यदि पितृभक्ति और प्रेम है, तो स्वेच्छाचारिता और उपेक्षा का भाव भी ' ओथेलो ' में सरलता और शौर्य है, तो जिघांसा और असूया भी। इससे पुरुषों की महिमा का अनुमान किया जा सकता है। पुरुष विराट् भावों की ओर ही अग्रसर होता है।

भगवान् बुद्धदेव की शांति, ईसा मसीह का प्रेम, अर्जुन की शक्ति, धर्मराज का धैर्य, एकलिस का पराक्रम, ये सब विराट् रूप के ही द्योतक हैं। भवसागर के तट पर अथवा संसार के रण-क्षेत्र में इनकी शक्ति उद्दीप्त होती है। ये दिनकर के प्रकाश के समान मनुष्यों की अंतर्निहित शक्तियों को जागृत करके, कार्य-क्षेत्र में अग्रसर करते हैं। परंतु स्त्रियों की कोमलता, चंद्र-कला की ज्योत्स्ना के समान, मनुष्यों के अंतःकरण में सुधा-वर्षा करती है। यदि हम लोग पृथ्वी पर स्वर्ग का दृश्य देखना चाहते हैं, तो मातृस्नेह में स्वर्गीय शोभा का अनुभव कर सकते हैं। दरिद्रों की कुटियों और श्रीमानों के राजप्रासादों में वह सबसे अधिक मूल्यवान् रत्न है। यदि मनुष्य को उसका गर्व है, तो पशु को भी। मातृस्नेह ने समस्त पृथ्वी को आप्लावित कर रखा है। वहाँ जातिभेद या वर्णभेद नहीं है। देश-काल उसको मर्यादित नहीं कर सकते, अतएव मातृरूप को अंकित करने में सभी कोविदों ने अपनी कला की सार्थकता समझी है।

मातृस्नेह के साथ ही अपत्य-स्नेह है। अपत्य पर पिता का उतना ही अधिकार है, जितना माता का। तो भी शिशु माता ही की गोद में शोभा देता है। शिशु में जो सरलता है, वह माता ही की सरलता की प्रतिच्छाया है। सरलता पवित्रता से पृथक् नहीं है। हम गौरव देखकर चकित होते हैं, पर सरलता देखकर उसमें तन्मय हो जाते हैं। अपत्य के रूप में यह अमूल्य धन हम स्त्रियों ही से मिला है। जिस प्रकार क्षुद्र शीत-बिंदु में सूर्य की अनंत आभा स्पष्ट हो जाती है, उसी प्रकार शिशु के सौंदर्य में स्वर्ग की प्रतिमा परिस्फुट होती है। शिशु को हम पृथ्वी पर स्वर्ग का पारिजात कहेंगे, जिसने अच्छे और बुरे का ख़याल न करके सभी को अपने आमोद से प्रमुदित कर रखा है। जिस प्रकार वधिक के हृदय में 'आर्थर' पवित्र स्नेह का संचार कर देता है, उसी प्रकार दुष्यंत के हृदय में 'सर्वदमन' आशा का प्रकाश फैला देता है। मनुष्यत्व का रूप दोनों में एक ही भाव से व्यक्त होता है। अतएव कला में शिशु ने अपना एक पृथक् राज्य स्थापित कर लिया है।

कवियों के लिए शैशव की लीला सचमुच वर्णनीय विषय है। पृथ्वी में यदि कहीं सरलता और पवित्रता है तो शिशु में। यही कारण है कि कवियों और चित्रकारों ने बाल्यकाल का चित्र अंकित कर पृथ्वी पर स्वर्ग-राज्य की सृष्टि की है। पाश्चात्य चित्रकारों ने ईसा मसीह के बाल्यकाल का चित्रांकण किया है, और भारतीय चित्रकारों ने बाल-गोपाल का। किसी कवि ने कहा है कि, आकाश की उज्ज्वल नक्षत्रावली जिस प्रकार आकाश का काव्य है, उसी प्रकार पृथ्वी का विचित्र कुसुम-संभार। परंतु हमारी दृष्टि में तो पृथ्वी के शिशु-रूपी सचेतन पुष्प में ही सबसे अधिक सौंदर्य है।

महाकवि होमर ने अपने ओडेसी नामक काव्य में शिशु युलियस का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। कवि-कुल-गुरु कालिदास का शिशु-वर्णन भी बड़ा ही हृदयग्राही है। तुलसीदास का बाल-वर्णन भी मनोहर है। कालिदास और तुलसीदासजी ने शिशुक्रीड़ा का केवल दर्शनमात्र कराया है; परंतु सूरदास ने शिशु-जीवन का रहस्य खोल दिया है। 'सूरसागर' के दशम स्कध में कृष्ण की बाललीला का विशद वर्णन है।

मनुष्यत्व का तीसरा रूप उसके दुःख और दारिद्र्य में प्रकट होता है। यदि कोई भावना मनुष्य-जाति को एक करती या कर सकती है तो वह दुःख की भावना है। जैसे निशा के अंधकार में मनुष्यों का व्यक्तिगत भेद नष्ट हो जाता है, वैसे ही दुःख की छाया पड़ने पर सभी अपना भेद-भाव भूल जाते हैं। सुख और समृद्धि में मनुष्य मनुष्य से दूर हो सकता है; पर दुःख और दारिद्र्य में वह अपना हाथ बढ़ाकर शत्रु को भी गले लगाता है। मनुष्यों में सहानुभूति का होना स्वाभाविक है। इसका उदय दुःख में ही होता है। साहित्य और कला में वेदना का इतना प्रबल भाव होने का यही कारण है।

अनादि काल से मनुष्य एक चिरंतन आदर्श की खोज कर रहा है। अपने जीवन की एक अवस्था में जिसे वह, सत्य का पूर्ण समझकर,

ग्रहण करता है, उसी को जीवन की दूसरी अवस्था में त्याज्य समझता है। जीवन की अपूर्णावस्था में सत्य का पूर्ण रूप कैसे उपलब्ध हो सकता है? साहित्य और कला में जब मनुष्यत्व का आदर्श प्रदर्शित होता है, तब हम वहाँ इसी अपूर्णता का दर्शन करना चाहते हैं। गौरव के पूर्ण रूप में भी हमें जब कोमलता का आभास मिलता है, तब हमारा चित्त उसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट होता है। साहित्य में आदर्श रूप से जिन पात्रों की सृष्टि हुई है, उनके चरित्र में मानव-स्वभाव की दुर्बलता का चित्र अवश्य अंकित होता है और तभी वे हमारे हृदय में स्थान प्राप्त कर लेते हैं। यदि उनकी क्षमता की ओर ध्यान दें, तो हम उनका वह विराट् रूप देखेंगे, जो हमारे लिए अनधिगम्य है। परंतु मनुष्य की सभी दुर्बलताओं से मुक्त होने पर उनमें हम अपने जीवन का प्रतिरूप देख लेते हैं। मनुष्यों के स्वभाव मे दुर्बलता अवश्य है। परंतु दुर्बलता नीचता नहीं है। अन्याय से किसी की नीचता नहीं सिद्ध होती। जो दुराचारी हैं, वे भी अन्याय का- यदि उस अन्याय से उनका कोई स्वार्थ नहीं है- समर्थन नहीं करते। जहाँ अपनी हानि या लाभ नहीं है, वहाँ दुष्ट भी दूसरों की दुष्टता का सुफल नहीं देखना चाहते। इच्छा अपनी वस्तु है। परंतु उसके अनुसार कर्म करने की क्षमता सभी में नहीं रहती। जब हम किसी प्रलोभन में पड़कर कोई काम करते हैं, तब दूसरों से अभिभूत होते हैं। तब उसके लिए हमें जो अनुताप होता है उससे हमारी हृद्गत इच्छा का स्वरूप प्रकट होता है। जब तक हम अपने अवगुणों के अधीन हैं, तब तक दासत्वबंधन में पडे रहते हैं। जब हम अनुतप्त होते हैं; तब मुक्त हो जाते हैं। अतएव मनुष्य के लिए जिस प्रकार किसी भी इच्छा के वशीभूत होकर प्रलोभन में पड़ना स्वाभाविक है, उसी प्रकार उसका अनुतप्त होना भी उसके स्वभाव के अनुकूल है। कला-कोविदों की सृष्टि में हम वेदना और अनुताप का प्राधान्य अवश्य पावेंगे।

कविता की उत्पत्ति के विषय में, भारतवर्ष में, जो कथा प्रसिद्ध है, उससे यह भली भाँति सिद्ध होता है कि वेदना की अनुभूति से ही

मनुष्य के हृदय में स्वर्गीय भाव का उद्रेक होता है। क्रौंच का वध देख-कर आदि–कवि के हृदय में जो शोक हुआ था वह श्लोक के रूप में व्यक्त हुआ। विश्व की वेदना से सहानुभूति रखकर कवि ने चरम सौंदर्य की सृष्टि की। उनकी कृति में धर्म की विजय और पाप की पराजय ही की कथा नहीं है, दुःख की विजय और त्याग की महत्ता भी वर्णित है। रामचंद्र का गौरव लंका-विजय अथवा रावण–वध पर प्रतिष्ठित नहीं है; उनका यथार्थ गौरव तपस्वी के रूप में है, जिससे सदैव कर्तव्य के लिए दुःख का आलिंगन किया। दुःख की यह महत्ता साहित्य के सभी श्रेष्ठ ग्रंथों में प्रदर्शित हुई है। वियोगांत नाटकों की सृष्टि भी इसी महत्ता को दिखाने के लिए हुई है। उन नाटकों में हम प्रायः धर्म की विजय नहीं देखते। इसके विपरीत पाप ही की विजय देख पाते हैं, परंतु धर्म का पथ सुखमय नहीं होता। यदि वह सुखमय होता, तो कदाचित् उसका गौरव ही नष्ट हो जाता। यही कारण है कि वियोगांत नाटकों में पराजित व्यक्ति ही के प्रति हमारी सहानुभूति अधिक होती है। दुःखानुभूति की विशेषता यही है कि उससे सहानु-भूति व्यक्त होती है। संसार दुःखपूर्ण है, मनुष्यों का जीवन दुःखमय है। इसलिए इस संसार में प्रेम और सहानुभूति की प्राप्ति हो सकती है।

यही कारण है कि साहित्य और कला में करुणारस सबसे श्रेष्ठ माना गया है। इस मर्त्यलोक में जीवन और मृत्यु की जो लीला हो रही है, मनुष्यों के हास्य में भी करुण वेदना की जो ध्वनि उठ रही है, क्षणिक संयोग के बाद अनंत वियोग की जो दारुण निशा आती है, उसी से मर्माहत होकर कवि के हृदय से विश्व–वेदना का उद्गार निकलता है, जिसके स्वर से व्यथित हृदय में भी शांति आ जाती है।

कला में अश्रु से अप्रिय–दर्शन नहीं है। यथार्थ में, कितने ही चित्रों में अश्रु से अधिक सौंदर्य का विकास होता है। किंतु अश्रु ही शोक और दुःख का एकमात्र लक्ष्य नहीं है। साधारण चित्रकार करुणारसात्मक चित्र अंकित करने में प्रायः अश्रु की सहायता लेते हैं। किसी चित्र में

अश्रुपूर्ण नेत्र अंकित किए जाते हैं और किसी में पतनोन्मुख अश्रु-जल। किंतु सभी अवस्थाओं में शोक का परिणाम अश्रु-जल नहीं होता। जब दुःख अधिक रहता है, तब छाती फट जाती है; परंतु आँखों से आँसुओं की एक भी बूंद नहीं टपकती, और न मुँह से कोई शब्द ही निकलता है। अगाध दुःख का वर्णन करते समय कवि 'हाय! हाय!' की धूम नहीं मचाते। वे कभी-कभी विरह-व्यथा के वर्णन में आँसुओं की झडी और हिचकियों का ताँता लगा देते हैं- परंतु जब यही व्यथा अत्यंत गंभीर रूप धारण कर लेती है, तब कवि अश्रुओं का वर्णन नहीं करते।

शोक का एक कारण मृत्यु है। अतएव करुणारस में मृत्यु का दृश्य प्रदर्शित किया जाता है। मृत्यु के संबंध में मनुष्यों की जैसी भावनाएँ हैं, वे ही कला में व्यक्त होती हैं। जिनके लिए मृत्यु अनंत वियोग की निशा है, वे मृत्यु का आलिंगन नहीं कर सकते। मृत्यु उनको असह्य है। परंतु जो यह मानते हैं कि मृत्यु के भीतर अनंत जीवन निहित है, वे मृत्यु का भी स्वागत करते हैं। मृत्यु उनके लिए आशा का संदेश लाती है। दुःख की भावनाएँ सदैव मर्मस्पर्शी होती हैं। कहा जाता है, मनुष्य स्वभाव से ही आनंद का इच्छुक है। तो फिर दुःख की भावना से उसको कौन-सा आनंद प्राप्त होता है? वह किसके लिए दुःख का स्वागत करता है?

मनुष्य-जीवन में सर्वत्र प्रकाश नहीं हैं, अंधकार भी हैं। मनुष्य में जैसे क्षमता है, वैसे ही दुर्बलता भी। मनुष्य का पतन हो सकता है, इसीलिए उसके उत्थान पतन दृग्गोचर होते हैं। हिंदी के कितने ही विद्वान् मनुष्य-जीवन के अंधकारमय भाग को साहित्य में देखना ही नहीं चाहते। पाप की बीभत्स लीलाओं को वे साहित्य से दूर ही रखना चाहते हैं परंतु जीवन की पूर्णावस्था प्राप्त करने के लिए हमें अपूर्णावस्था के भीतर से होकर ही जाना पडेगा। मनुष्य की क्षमता यही है कि वह पतितावस्था से ही उच्चतम अवस्था को पहुँच सकता है। उसकी दुर्बलता यह है कि वह उच्चतम अवस्था प्राप्त करके भी

भ्रष्ट हो सकता है। दुराचारियों की जिन बीभत्स कृतियों से हमारा चित्त उद्विग्न हो उठता है, वे भी जीवन की एक अवस्था की सूचना देने के लिए आवश्यक हैं। मनुष्य के लिए अधःपतन की पराकाष्ठा जितनी सच्ची है, उतना ही सच्चा उसका अभ्युत्थान भी। यही कारण है कि जिन विश्व-कवियों ने हमें जीवन की उच्चतम अवस्था दिखलाई हैं उन्होंने जीवन की निम्नतम अवस्था की भी उपेक्षा नहीं की। यही नहीं, उन्होंने श्रेष्ठ चरित्रों में भी मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता प्रदर्शित कर दी है।

मनुष्य-संसार में पुरुष भी हैं और स्त्रियाँ भी। पुरुषों की क्षमता और दुर्बलता स्त्रियों की क्षमता और दुर्बलता से भिन्न है। पुरुष जिसे दुर्बलता समझता है, वही स्त्रियों की क्षमता है। पुरुष की क्षमता ऐश्वर्य में है, और स्त्रियों की क्षमता दारिद्र्य में। जहाँ पुरुष दुर्बल हैं, वहीं स्त्री की शक्ति प्रकट होती है। पुरुष सर्वस्व प्राप्त कर सकता है, और स्त्री सर्वस्व दे सकती है। पुरुष के लिए अप्राप्य कुछ भी नहीं हैं, और स्त्री के लिए अदेय।

पुरुष स्त्री को गिराकर खड़ा रहता है, और स्त्री गिरकर भी पुरुष की रक्षा करती है। अपने धर्म का रक्षा के लिए पुरुष स्त्री का परित्याग कर सकता है और स्त्री परित्यक्त होकर भी पुरुष के कर्म की रक्षा करती है। हमारी समझ में स्त्री ही पृथ्वी की कल्पलता हैं। कल्पलता की आवश्यकता समृद्धि में नहीं, अभाव में है। जब पुरुष अकिंचन हो जाता हैं तभी वह स्त्री से सर्वस्व प्राप्त करता हैं। साहित्य में स्त्रियों के चरित्र का विकास जैसा अंकित किया गया है उसी की चर्चा आगे की जाती हैं। स्त्रियों के चरित्र-विकास के संबंध में सबसे पहले यही प्रश्न उठता है कि नारी-प्रकृति के मूल-उपादान क्या हैं? जब दुष्यंत ने राज-सभा में शकुंतला पर कपट का दोष लगाया, तब गौतमी ने कहा- "राजन् यह दोषारोपण अन्याय हैं। शकुंतला प्रकृति की गोद में पली है। वह छल करना जानती ही नहीं।' परंतु दुष्यंत ने यह निश्चयपूर्वक कहा कि कपटाचरण नारी-प्रकृति के

मूल–उपादानों में से एक हैं। दुष्यंत के इस कथन की परीक्षा के लिए यह आवश्यक है कि नारी-प्रकृति पर विचार किया जाय। यदि स्त्री मानव-समाज से पृथक् रहे, सभ्यता के संपर्क से बिलकुल दूर रहे, तो उसके चरित्र में कौन-सी विशेषता रहेगी ? यह तो संभव नहीं कि मनुष्य-संसर्ग से कोई भी स्त्री बिलकुल पृथक् रह सकती है। नारी-चरित्र की आलोचना में हमें केवल इसी बात पर ध्यान देना चाहिए कि समाज और सभ्यता का प्रयक्ष प्रभाव न रहने पर नारी-चरित्र का विकास किस प्रकार होता है।

हमारी समझ में जिन स्त्रियों के चरित्र का संगठन सभ्यता के संपर्क से पृथक्, निर्जन स्थान में, हुआ है, उनके मानसिक भावों में तीव्रता होनी चाहिए। उनका प्रेम निर्मल रहेगा; किन्तु एक वन-नदी के प्रवाह के समान तीव्र होगा। उनमें सरलता रहेगी, परतु उसके साथ स्वच्छंदता भी होगी। उनकी वासना निर्बाध और प्रखर होगी।

साहित्य में नारी-चरित्र की आलोचना करने समय हमारे आगे एक बात स्पष्ट हो जाती है। वह यह कि स्त्रियों का जीवन ही प्रेम-मय होता है; प्रेम में ही उनके जीवन की सार्थकता है। पतितावस्था में भी उनका यह प्रेम-भाव उज्ज्वल बना रहता है।

जो सच्चे कवि हैं, वे देश और काल के घेरे से परे हैं। देश और काल का आश्रय ग्रहण कर, उनमें रहकर, उन्हीं के उपकरणों का संग्रह कर वे सभी देशों और सभी कालों के लिए उपयुक्त आदर्श की सृष्टि करते ह।

२०—वह चला गया!

श्रीयुत हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

वह चला गया! वह ब्रह्मचर्य का विजय-केतन, धर्म का मूर्तिमान् विग्रह, संयम की धवल पताका, वैराग्य का प्रसन्न वैभव, सत्य का अवतार, अहिंसा का रूप, प्रेम का आकर, कीर्ति का कैलाश, भक्ति का उल्लास हमारे बीच से चला गया! इतिहास ने इतनी क्षीण काया में इतना बड़ा प्राण नहीं देखा था। धरित्री ने इतने अल्प अवकाश में इतना बड़ा प्रकाश नहीं देखा था; मनुष्यता ने इतना बड़ा विजयोल्लास कभी अनुभव नहीं किया था। वह हँसता हुआ आया, रुलाता हुआ चला गया। तपस्या का शुभ्र हिमालय गल गया; सारा संसार उस शीतल वारिधारा से आर्द्र है। संसार के इस कोने से उस कोने तक एक ही मर्म-भेदी आवाज आ रही है—वह चला गया। गाँधी चला गया!!

वह जिधर मुड़ा, जीवन लहरा उठा; वह जिधर झुका, प्रेम बरस पड़ा; वह जिधर चला, ज़माना ढरक पड़ा। वह शक्ति का भण्डार था, क्योंकि वह सच्चे अर्थ में भक्त था। उसने अपने 'रामको' अपना सर्वस्व भेंट कर दिया था इसीलिये वह सब-कुछ को अपना सका था। 'भागवत' में लिखा है कि मनुष्य जितना भगवान् को देता है उतना ही उसका अपना होता है, आईने के सामने जितना मुख बढा दिया जाता उतने की ही आभा लौटकर आ जाती है। बाकी का कोई अर्थ नहीं। वह निष्फल होता है। जो जितना देता है; उतने का ही सच्चा अधि-कारी होता है—

यद् यद् जनो भगवते विदधाति मानं
तच्चात्मनः प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः।

गाँधी जी ने अपना सब कुछ ज्ञान, कर्म, भक्ति, मन, प्राण, वाणी, विद्या, बुद्धि, विभव–सब कुछ 'राम को' दे दिया था, इसीलिये इनपर उनका अखण्ड अधिकार था। दुनिया हैरान होकर सोचती है कि इतनी शक्ति उन्हें मिली कहाँ से? वह बार-बार धोखा खाकर भी नहीं सीखती। वह मिट्टी के ठीकरों को व्यर्थता को बार-बार देखकर भी नहीं समझती। वह बाह्य आवरणों की नीरसता बार-बार अनुभव करके भी उनसे चिपटती है। हाय, पानी में बहनेवाली मछली को प्यास से छटपटाते देखना कितना करुणाजनक हास्यास्पद व्यापार है। कबीरदास ने इस अन्धे संसार को इसी प्रकार छटपटाते देख करुणा की हँसी से अपना दुःख प्रकट किया था: "पानी बिच मीन पियासी, मोहि देखि-देखि आवे हाँसी!!" शक्ति का उत्स बाहर नहीं है, वह भीतर है। कब संसार इस महासत्य को समझेगा? बुद्ध ने अपने जीवन से इस ओर ही संकेत किया, ईसा ने प्राणों की आहुति देकर यह सिद्ध किया और अब गाँधी ने भी चकित संसार को इसी विशाल सत्य की ओर उन्मुख किया है।

मनुष्य की सेवा! वह मनुष्य का सर्वोत्तम सेवक था।

मनुष्य क्या है? आहार–निद्रा के साधनों से प्रसन्न होने वाला, घर–द्वार को जुटाकर खुश रहने वाला, कौडी-कौडी जोड़कर माया बटोरने वाला मनुष्य भी मनुष्य हो है पर यही सब कुछ नहीं है। मनुष्य पशु का ही विकसित रूप है। पर इसीलिये मनुष्य पशु ही नहीं है। पशु सामान्य धर्म उसमें रह गये हैं। उनकी पूर्ति से वह संतुष्ट भी होता हैं, पर यही सब कुछ नहीं है। वह पशु से भिन्न है, पशु से उन्नत है। क्योंकि उसमें संयम और तप करने की शक्ति है। इन्द्रिय-परायणता पशु सामान्य धर्म हैं। जितेंद्रियता मनुष्य की अपनी विशेषता है। गाँधी जी ने मनुष्य को इस स्तर पर ले जाने का प्रयत्न किया था। यही

मनुष्य की सेवा हैं। उसे अन्न मिलना चाहिये, उसे वस्त्र मिलना चाहिये, उसे ज्ञान मिलना चाहिये, ठीक हैं, पर यही तक आकर रुकना मनुष्य की सेवा नहीं है। मनुष्य को संयम मिलना चाहिये, जितेंद्रियता चाहिए, तपस्या की योग्यता प्राप्त होनी चाहिये संयम सबका मूल हैं। दुनिया में भली बात बताने वाले लोगों की कमी नहीं हैं। व्रत की, तप की, शास्त्र के अध्ययन की, धर्म को, जप को, समाधि की, मोक्ष की चर्चा किसने नहीं सुनी? कौन-सा धर्म हैं जिसके शास्त्रों और आचार्यों ने इनकी चर्चा अपने अनुयायियों से नहीं कि? पर सुनता कौन हैं! पानी पर की लकीर के समान ये बातें उत्पत्ति के साथ ही विनाश कीं ओर बढ़ जाती हैं। ोई सुनता हीं। क्यों नहीं सुनता? प्रल्हाद ने ठीक ही कहा था कि जो इन्द्रियों ो काबू में नहीं कर सका, जिसे जड़ जगत् के प्रलोभन निरन्तर खींच रहे हैं, जो दम्भ में ही जीवन बिता देता हैं वह उन बडी बातों को ओर नहीं जाता। जाता वही हैं जो संयमी होता हैं जो अपने को सँभाल सकता है जो सत्यवादी होता हैं। अजितेन्द्रिय की प्रवृत्ति उधर नहीं होती।

हाय, जो महापुरुष चला गया उसने इस रहस्य को समझा था। प्राण देकर भी उसने इस देश के जन-समुदाय को बताना चाहा था कि बडी साधना की पहली शर्त है संयम, आत्म-नियमन। उसने भुजा उठाकर कहा था कि मनुष्य की सेवा का लक्ष्य है मनुष्य को पशु सामान्य धरातल से ऊपर उठाना, इन्द्रिय वश्यता के पंक से उबारना आहार-निद्रा के साधनों की अपेक्षा बडी बात सोचने की आदत डलवाना।

वह मनुष्य की सेवा को उसके सर्वोच्च स्तर पर ले जाना चाहता था। नर की सेवा नारायण की सेवा है। मनुष्य को तापतप्त अवस्था से उबारना अखिलात्मा पुरुष की सबसे बडी आराधना है :

> "तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
> परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥"

वह इस स्पर्धा और कुटिलता की घोर अन्ध रात्रि में चन्द्रमा की भाँति स्निग्ध अलोक-विस्तार करता रहा। उसने जाति-धर्म-निर्विशेष मनुष्य की सेवा का व्रत लिया था, क्यों कि वह अखण्ड सत्य का द्रष्टा था। कबीर की भाँति उसने समझा था कि जो व्यक्ति सरबस को छोड़कर खण्ड का रस चखने जाता है वह तृप्त नहीं होता:

"सरबस छोड़ि खण्ड रस चाखा तृष्णा तापनसानी।"

जो स्वयं तृप्त नहीं हो सका वह दूसरों का ताप क्या दूर करेगा? गाँधी इस कण्टकाकीर्ण भवकानन का पारिजात था, इस स्नेह शून्य मरुकान्तार का मानसरोवर था, इस ताप-तप्त संसार में बरसने वाला सजल जलधर था। हाय, हतभाग्य भारतवर्ष, तू आज शोच्य है! तुझे वह रत्न मिला था, जो देवताओं को भी नहीं मिलता। गाँधी भारतवर्ष के अनेक युगों के सञ्चित पुण्य का मधुर फल था। आज देश-जननी की गोद सूनी है, आज वह सचमुच दरिद्र है।

पर धन्य है वह देश जिसने गाँधी को पैदा किया, धन्य है वह भूमि जिसने गाँधी को धारण किया, धन्य है वह जन समाज जिसके लिये उसने अपने को निःशेष भाव से दे दिया। गाँधी का आना मंगल सूचक था, जाना किसी महान् भविष्य का सूचक बने। भारत जननी बन्ध्या नहीं है। गाँधी गया नहीं है। मनुष्यता थकी नहीं है। यद्यपि चित्त आज उन्मथित है, वाणी रुद्ध चेष्ट है, हृदय व्याकुल है, परन्तु गाँधी का नाम ही आशा का सञ्चार करता है निराश होने कोई बात नहीं है। वह चला गया--उसका केवल बाह्य रूप ही गया है। वह रह गया है--उसका सम्पूर्ण अस्तित्व रह गया है। अन्तर के अन्तर से आवाज़ आ रही है, वह गया नहीं है, वह अनन्त शक्तियों का ज्योतिर्मय पुरुष हृदय के गम्भीरतम गह्वर में आज भी वर्तमान है। हाँ, वह गया नहीं है। यद्यपि विश्वास है कि वह रह गया है तथापि मन मानता नहीं। कहीं से रुद्ध क्रन्दन बार-बार फट पड़ना चाहता है--वह चला गया, हाय, वह चला गया!!

२१–देशबन्धु चित्तरंजनदास

श्रीयुत शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय

ऐसा लगता है कि पराधीन देश का सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि स्वतन्त्रता की लड़ाई में विदेशियों से कहीं अधिक अपने देश के लोगों से लड़ना पड़ता है। इस लड़ाई की आवश्यकता जिस दिन समाप्त हो जाती है, पराधीनता की जंजीर भी अपने आप टूट जाती है। लेकिन आवश्यकता समाप्त नहीं हुई, देशबन्धु ने शरीर त्याग दिया। घर और बाहर अथक लड़ाई के गुरु भार को उनका आहत और शान्त शरीर सह नहीं सका।

आज चारों ओर क्रन्दन–ध्वनि सुनाई पड़ रही है। इतनी बडी क्रन्दन–ध्वनि की ही आवश्यकता थी।

उनका जीवन काल बडी तेजी से समाप्त होता आ रहा है, इसे हम भी जानते थे और खुद वह भी जानते थे।

उस दिन पटना जाने के पहले मुझे बुला भेजा। बिछौने पर पडे हुए थे। निकट जाकर बैठते ही मुझसे कहा, 'इस बार अन्तिम है शरत् बाबू।'

कहा कि आपने कहा था कि स्वराज्य अपनी आँखों से देख जायेंगे।

क्षण भर चुप रहकर बोले, उसके लिये समय नहीं मिल सका।

जब वह जेल में थे तो कई आदमी दीवार को नमस्कार कर रहे थे। पर उन्होंने कहा था कि हमारे देशबन्धु इस जेल में हैं, हम उन्हें अपनी आँखों से नहीं देख सके। इसलिए जेल की दीवार पर उन्हें प्रणाम कर रहे हैं। इस बात को उन्होंने सुना था। इसका स्मरण कराते

हुए मैंने कहा कि ये आपको कैसे छोड़ेंगे। दोनों आँखें सजल हो आयीं, कुछ क्षणों में उन्होंने अपने को संभाल कर दूसरी बातें शुरू कीं। बीस मिनट के बाद डा० दास गुप्ता े कमरे के कोने से मेरी मोटी लाठी लाकर हाथ में दी तो उन्होंने हँसकर कहा कि शरत् बाबू इशारा समझ गये न। ये हमें ज़रा बातचीत भी नहीं करने देना चाहते।

इस बात का मुझे फिर मौका नहीं मिला।

लोग कहते हैं कि इतना बड़ा दाता, इतना बड़ा त्यागी नहीं देखा। दान हाथ फैल कर लिया जाता है, त्याग आँखों से दिखाई पड़ता है, यह आसानी से किसी की नज़रों से नहीं बच सकता। लेकिन हृदय का गूढ़ वैराग्य, वास्तव में सभी प्रकार के कामों के बीच भी इतना बड़ा वैराग्य मैंने दूसरा नहीं देखा। ऐश्वर्य की जिसे ज़रूरत नहीं, धन सम्पदा का मूल्य जो किसी भी तरह नहीं समझ सका, रुपये पैसे को वह दोनों हाथों से न लुटायेगा तो कौन लुटायेगा। एक दिन मुझ से कहा था कि लोग समझते हैं कि मैंने किसी विशेष व्यक्ति के प्रभाव में पड़कर, तरंग में आकर प्रेक्टिस छोड़ दी है। वे नहीं जानते कि यह मेरी बहुत दिनों की आंतरिक कामना थी। केवल त्याग का छल करके उसे छोड़ दिया। इच्छा थी थोडे से रुपये पास रखूंगा। लेकिन जब भगवान् की इच्छा नहीं है तो मेरे लिए यही अच्छा है।

लेकिन इस विशाल त्याग के एकान्त कोने में एक व्यक्ति और है, वह है वासन्ती देवी। एक दिन उर्मिला देवी ने मुझसे कहा था कि बडे भैया इतने बडे कामों के बीच एक व्यक्ति का हाथ चुपचाप काम करता है, वह है हमारी बहू। नहीं तो बडे भैया किस काम को कितना कर सकते इसमें मुझे घोर सन्देह है। वास्तव में असहयोग के प्रारम्भ से बहुतों को देखा। लेकिन सब कुछ के पीछे छिपी ऐसी आडम्बरहीन, शांत दृढ़ता, धैर्य, ऐसा सदा प्रसन्न स्निग्ध माधुर्य मेरी नज़रों से दूसरा नहीं दिखाई पड़ा। नितान्त पीड़ित पति को उस दिन अन्तिम बार कौंसिल में उन्हीं ने भेजा था। डाक्टर को बुलाकर कहा, गाडी हो, स्ट्रेचर हो, जो कुछ भी हो तुम लोग कोई इन्तज़ाम कर दो। उन्होंने जब इरादा

कर लिया है, तो संसार की कोई शक्ति उन्हें रोक नहीं सकती। पैदल जाने की चेष्टा करेंगे, इसका नतीजा यह होगा कि तुम लोग रास्ते में ही इनसे हाथ धो बैठोगे।

पर खुद साथ नहीं जा सकती। दिन भर चुपचाप रास्ते की ओर देखती रही, अंग्रेजी में इसे कहते हैं हैसीनक्रिरेट करना, इसी से वह बहुत ज्यादा भय खाती थी। सभी लोगों की नजरें उनकी ओर खिंचे इस कल्पना से वह संकुचित हो उठती है। आज इसी को भारतवर्ष को सबसे अधिक आवश्यकता है। घर घर में जब तक इस तरह की साध्वी, इस तरह की लक्ष्मी पैदा नहीं होगी तब तक देश की मुक्ति की आशा सुदूर की बात ही रहेगी।

आज चितरंजन की दीप्ति से बंगाल का आकाश भास्कर हो उठता है। लेकिन दीप का जो अंश शिखा होकर दिखाई पड़ता है, उसका जलना ही उसका पूरा इतिहास नहीं है। इसीलिए लगता है कि सन्यासी चितरंजन को रिक्त कर लेने में भगवान् ने जिस प्रकार संकोच नहीं किया, जब दिया था तब उसी तरह कृपणता भी नहीं की थी। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की सभा के उपलक्ष में कहीं दूर जाने की जरूरत पड़ने पर मेरा ऐसा दुर्भाग्य है कि ठीक उसके पहले दिन देशबन्धु ने मुझे बुलाकर कहा कि कल आप के संग ऊर्मिला जाएगी।

मैंने कहा कि जैसी आज्ञा। देशबन्धु ने कहा कि होगा तो। लेकिन शाम के बाद ही गाडी है। कल शाम तक आप बीमार नहीं पडेंगे ऐसा लग रहा है न।

मैंने कहा कि यह बात साफ़ है कि दुश्मनों ने आपसे मेरी शिकायत की है।

उन्होंने कहा, कि शिकायत की है सही में। लेकिन आप बिस्तर पर पड़ जाते हैं इस तरह के गवाह और सबूत तो नहीं हैं।

मुझे उस लड़के की बात याद आ गई जिस बेचारे को बी. ए, तक पढ़ने पर नौकरी नहीं मिली। बडे बाबू से दरख्वास्त करने पर

उन्होंने क्रोधित होकर कहा था, कि जिसे नौकरी दी है उसकी योग्यता अधिक है, वह बी. ए. फेल है।

जवाब में लड़के ने सविनय निवेदन किया था कि महाशय परीक्षा देने पर क्या में उसकी तरह फेल नहीं हो सकता था।

मैंने भी देशबन्धु से कहा, मेरी योग्यता कम है, वे मेरी निन्दा करते हैं। जानता हूँ। लेकिन बिस्तर पर पडे रहने की योजना नहीं है, इस निंदा को मैं कभी भी चुपचाप स्वीकार नहीं कर सकता।

देशबन्धु ने हँसकर कहा कि नहीं। आप गुस्सा न हों, आपकी इस योग्यता को वे मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं।

गया कांग्रेस से लौटकर भीतरी मतभेद और मनोमालिन्य जब हमारे चारों ओर मेघाच्छन्न हो उठे, बंगाल में जितने अख़बार हैं प्रायः सभी ने मिलकर एक स्वर से उनका स्तवगान आरंभ किया, तव अकेले उन्हें ही हिन्दुस्तान के एक छोर से दूसरे छोर तक किसी प्रकार घूम घूम लड़ते देखा, संसार के इतिहास में शायद इसकी तुलना नहीं। एक दिन पूछा था कि संसार सें क्या कोई भी विरोधी अवस्था आपको पस्त हिम्मत नहीं कर सकती है? देशबन्धु ने जरा हँसकर कहा था कि यदि कोई बचाव न रहता, तो पराधीनता की जो आग हृदय में निरंतर जल रही है वह क्षण भर में मुझे जलाकर ख़ाक कर देती।

आदमी नहीं है, पैसा नहीं है, पक्ष में एक भी अख़बार नहीं है, जो लोग बहुत छोटे हैं वे भी गाली गलौज के सिवा बात नहीं करते, देशबन्धु की यह कैसी दशा थी अर्थाभाव के कारण हम बहुत ही बेचैन हो उठते थे, केवल बेचैन नहीं हो उठते तो वे खुद। एक दिन की बात याद आती है। तब रात के नौ या दस बजे होंगे। बाहर पानी बरस रहा था और मैं, सुभाष और वह सियालदह के पास एक बडे आदमी के बैठक खाने में कुछ रुपये की आशा से बैठे हुए थे। धीरज खोकर मैं बोल उठा कि ग़रज क्या अकेले आप की ही है, देश के लोग सहायता देने में अगर इतने विमुख हैं तो रहने दीजिये।

मन्तव्य सुनकर देशबन्धु शायद मन ही मन खिन्न हुए। कहा- यह ठीक नहीं है शरत् बाबू दोष हमारा है। हमीं काम करना नहीं जानते, हम अपनी बात उन्हें समझा कर नही कह पाते। बंगाली भावुकों की जाति है, बंगाली कृपण नहीं है, एक दिन जब वह समझेगी तो अपना यथा सर्वस्व लाकर हमारे हाथों में रख देगी। इन बातों को कहते ही उत्तेजना से उनकी आंखें चमक उठती थीं। बंगाल देश और बंगाल के लोगों को वह कितना प्यार करते थे, कितना विश्वास करते थे। कभी ढूढ़ने पर भी उन्हें उसमें कोई त्रुटि नहीं मिलती थी।

इस बात का क्या जवाब हो सकता? मैं चुप रहा, लेकिन आज ऐसा लगता है कि यथार्थ में इतना प्यार न करने से यह असीम शक्ति उन्हें नहीं मिलती। लोग रो रहे हैं महान् व्यक्ति के लिये। देश के लोक इसके पहले कितनी ही बार रो चुके हैं। उस रोने को मैं पहचानता हूं। लेकिन यह वह रोना नहीं है। नितांत प्रिय, नितांत अपने जन के लिये, मनुष्य के हृदय में जो आग जलती रहती है, यह वही आग है। और हम जो उनके आस-पास थे, उनके पास अपने भयंकर दुःखको प्रगट करने की भाषा नहीं है। दूसरों के सामने प्रगट करना अच्छा भी नहीं लगता।

हम लोगों में से बहुतेरों के मन में देश का काम करने की धारणा धीरे धीरे अस्पष्ट हो गई थी। हम देशबन्धु का काम करते थे। आज वे नहीं हैं इसलिये रह रह कर यही बात याद आती है कि काम करके क्या होगा, क्या उनके सभी आदेश हमारे मनःपूत होते थे, हाय गुस्सा करने का, अभिमान करने का स्थान नहीं होता था। मानो बिलकुल अँधे हों। इसके लिये हमारी बहुत क्षति भी हो गई। लेकिन हज़ारों प्रमाण पेश करके भी इस विश्वास से डिगाया नहीं जा सकता था।

उस दिन बरीसाल के रास्ते में स्टीमर के कमरे में बत्ती बुझी हुई थी। मैंने समझा था कि बग़लवाले बिस्तर पर देशबन्धु सो गये हैं। बहुत रात बीते उन्होंने अचानक बुलाकर कहा, शरत बाबू सो गये। कहा-नहीं।

तब चलिये डेक पर चलकर बैठें।

मैंने कहा, कीडों का बड़ा उत्पात है।

देशबन्धु ने हंसकर कहा, बिस्तर पर पडे पडे छटपटाने से उसका सहना आसान है। चलिए।

दोनों जने डेक पर आ बैठे। चारों ओर अंधकार था। बादलों से ढके आकाश में बीच बीच में तारे दिखाई पड़ते थे। नदी के असंख्य घुमावों के रास्तों से होता हुआ स्टीमर चल रहा था। उसकी दूर प्रसारी सर्च लाइट की रोशनी कभी तीर पर बंधी छोटी नावों की छत पर, कभी ड़पे की चोटी पर, कभी मल्लाहों की झोपड़ियों पर जा पड़ती थी। देशबंधु बहुत देर तक स्तब्ध रहकर सहसा बोल उठे, शरत् बाबू नदी शब्द का सच्चा अर्थ क्या है, जो इस देश में नहीं जन्मे हैं वे नहीं जानते। हमारे लिये तो यही देश सर्वप्रिय है, हमें तो यही चाहिए।

इन बातों का तात्पर्य मैं समझ गया, लेकिन चुप रहा। इसके बाद वह अकेल ही न जाने कितनी बातें कह गये। मैं चुपचाप बैठा रहा। उत्तर की आवश्यकता नहीं थी। कारण यह कि वे प्रश्न नहीं थे, एक भाव थे। नहीं जानता, क्यों उनका कवि-चित्त उद्वेलित हो उठा था।

अचानक पूछा, आप परदे में विश्वास करते हैं?

बोला, आप जिस विश्वास की ओर इशारा कर कहे हें वह विश्वास नहीं करता।

क्यों नहीं करते ?

शायद बहुत दिनों तक बहुत चरखा काता है, इसीलिये।

देशबन्धु क्षण भर चुप रहकर बोले कि इस भारतवर्ष के ३० करोड़ लोगों में अगर पांच करोड़ भी सूत कातते हें तो सात करोड़ का सूत तैयार हो सकता है।

मैं बोला, हो सकता है। दस लाख आदमी अगर एक मकान बनाने में हाथ लगावें तो वह डेढ़ सेकन्ड में तैयार हो सकता है। बोलिये आप विश्वास करते हैं।

देशबन्धु ने कहा ये दोनों एक चीज़ नहीं हैं। लेकिन आपकी बात मैंने समझ ली है। वही नौ मन तेल और राधावाली कहानी। लेकिन मैं फिर भी विश्वास करता हूं। मेरी बडी इच्छा होतीं है कि चरखा कातना सीखूं। लेकिन हाथ के किसी काम में मैं तनिक भी पटु नहीं हूं।

मैं बोला, भगवान् ने आपकी रक्षा की है।

देशबन्धु हँसे। बोले, आप हिन्दू-मुस्लिम एकता में विश्वास करते हैं?

बोला, नहीं।

देशबन्धु ने कहा आपको मुसल्मान प्रीति अतिप्रसिद्ध है।

सोचो मनुष्य की कोई भी साधु-इच्छा को गुप्त नहीं रखा जा सकता। ख्याति इतने बडे कानों तक भी आ पहुँची हैं। लेकिन अपनी प्रशंसा सुनकर सदा से मुझे लज्जा आती है। इसलिये सविनय मैंने सिर नीचा कर लिया।

देशबन्धु ने कहा, लेकिन इसके सिवा क्या चारा है बतला सकते है? इसी बीच में उनकी संख्या पचास लाख बढ़ गई और दस वर्ष के बाद क्या होगा बतलाइये तो।

मैं बोला, यद्यपि यह ठीक-ठीक मुसल्मान प्रीति का निदर्शन नहीं हैं। अर्थात् दस वर्ष बाद की कल्पना करते आप का रंग जैसे फक हो गया हे उससे आपमें और मुझमें बहुत अधिक अन्तर नहीं दिखाई पड़ रहा हैं। कुछ भी क्यों न हो, केवल संख्या ही मेरे लिये बडी चीज़ नहीं है। ऐसा होता तो चार करोड़ अंग्रेज डेढ़ सौ करोड़ लोगों के सिरपर पैर रखकर चक्कर नहीं काटते। नमःशूद्र, माली, नट, राजबंशी, पोद इन्हें खींच लीजिये, देश के भी अन्दर दसके भी अन्दर इनके लिये एक मर्यादा का स्थान निश्चित कर के इन्हें आदमी बनाइये, स्त्रियों के प्रति जो अन्याय निष्ठुर सामाजिक अविचार चला आ रहा है उसका प्रतिकार कीजिये, अन्यथा संख्या के लिये आपको चिन्ता करनी पडेगी।

नमःशूद्र आदि जातियों की लांछना की बात, उनके कलेजे में तीर
तरह बिंधी रहती थी। किसी ने एक बार उन्हें कहा था कि देशबन्धु
ब्द का एक अर्थ है, चंडाल। इस बात को सुनकर वे खुशी से फूले न
माये। खुद ऊँचे कुल में पैदा होने के कारण ही, शायद ऊँची जातियों
ारा दिये गये दोष से ही इस अपमान की ग्लानि को निपीड़ितों के साथ
राबर भुगतने के लिये उनका हृदय व्याकुल हो उठता था। वे व्यग्र
ाकर बोल उठे कि आप लोग कृपाकर मुझे इस राजनीति के जाल से
ड़ा दें, मैं जाकर इन्हीं के बीच में रहूँ तो मैं कहीं अधिक काम कर
कूंगा। यह कहकर, उन्होंने इन पर दीर्घकाल से हिन्दू समाज कितना
त्याचार कर रहा है, उसी को एक-एक करके कहना शुरू किया।
ले-बेचारों को नाई धोबी तक नहीं मिलते; घरामी घर नहीं छाते;
र यही जब मुसलमान-ईसाई हो जाते हैं तो वे आकर इनका काम
रते हैं। इस तरह का बेवकूफ समाज नहीं मरेगा तो कौन मरेगा।
ह कहकर, बहुत देर तक चुप रहने के बाद सहसा प्रश्न किया, आप
मारे अहिंसक असहयोग में विश्वास करते हैं न? मैं बोला—नहीं, अहिं-
ात्मक या किसी भी असहयोग में मेरा विश्वास नहीं।

देशबन्धु ने हँसकर कहा—अर्थात् मैं देखता हूँ, हममें कहीं भी रंच-
ात्र मतभेद नहीं है।

मैंने प्रत्युत्तर में कहा, लेकिन एक दिन यथार्थ में ही रंचमात्र
तभेद नहीं रह जायेगा। मैं इसी आशा में ही तो हूँ। इसी बीच
ुझमें जितनी शक्ति है आपका काम कर दूं। और केवल मत को लेकर
ा क्या होगा? बसन्त मजूमदार, श्री चट्टोपाध्याय तो देश के बडे-बडे
ायकर्त्ता हैं। लेकिन अंग्रेजों के प्रति बसन्त की विघूर्णित लाल आंखोंका
हिंसक चितवन और श्रीशंका प्रेमसिक्त विद्वेषविहीन मेघगर्जन, इन
ोनों चीजों को देखने और सुनने से आपको भी संदेह नहीं रह जायेगा,
क महात्मा जी के बाद अहिंसात्मक असहयोग अगर कहीं स्थान प्राप्त
र सका है, तो वह इन दो मित्रों के चित्त में। पर इतना अधिक काम

कितने आदमियों ने किया है? असहयोग आन्दोलन की सार्थकता तो जन-साधारण के लिये है। लेकिन इस जनता वस्तु के लिये मुझे अति-रिक्त-श्रद्धा नहीं है। एक दिन की उत्तेजना में यह अचानक कुछ भी कर बैठ सकते हैं। लेकिन दीर्घकाल की सहिष्णुता इनमें नहीं। उस बार झुंड के झुंड ये जेल गये थे, लेकिन झुंड के झुंड माफी माँगकर लौट आये थे। जो नहीं आए थे वे शिक्षित मध्यम-वर्ग के गृहस्थों के लड़के थे। इसीलिये मेरा सारा निवेदन आवेदन इन्हीं से है। त्याग के द्वारा अगर कोई किसी दिन देश को स्वतन्त्र कर सकता है, तो केवल ये ही कर सकेंगे।

इस जगह शायद देशबन्धु के अन्दर एक गुप्त-व्यथा थी। वह चुप रहे, लेकिन जेल की बात से उन्हें एक बडे क्षोभ की बात याद आ गई। बोले-इस बात की दुराशा मैंने कभी भी नहीं की है कि देश एक ही छलांग में पूरी तरह स्वतन्त्र हो जायेगा। लेकिन मैं स्वराज्य की एक सच्ची नींव डालना चाहता हूँ। तब जेल में था। बाहर बडे लाट वगैरह थे, उधर साबरमती आश्रम में महात्मा जी। वे किसी भी तरह राजी नहीं हुए, हमारा उतना बड़ा सुअवसर नष्ट हो गया। मैं बाहर होता तो किसी भी तरह इतनी बडी गल्ती नहीं करन देता। यह सब भाग्य की लीला है।

रात खत्म होती आ रही थी। मैं बोला, सोयेंगे नहीं, चलिये।

चलिये-कहकर वह उठ खडे हुये।

मैंने पूछा-अच्छा, इन क्रांतिकारियों के सम्बंध में आप की सही राय क्या है?

सामने पौ फट रही थी। वह रेलिंग पकडे हुए कुछ देर ऊपर की ओर देखकर धीरे से बोले-इनमें से कितनों ही को मैं बहुत ज्याद प्यार करता हूं। लेकिन इनका काम देश के लिये सोलह आने ख़तरनाक है। इस कार्यक्रम से सारा देश कमसे कम पच्चीस वर्ष पीछे चला जायेगा। इसके अलावा उसका सबसे बड़ा दोष यह है कि स्वराज्य पाने के बाद भी यह चीज़ नहीं मिटेगी। तब और भी

स्पर्द्धित हो उठेगी। छोट-मोटे मतभेदों से सीधे घरेलू लड़ाइयाँ शुरू हो जायँगी। खून-खराबी रक्तपात को मैं हृदय से घृणा करता हूं, शरत् बाबू !

लेकिन इन बातों को उन्होंने जब कभी जितनी बार कहा है अंग्रेजी अखबारवालों ने विश्वास नहीं किया है। उनका उपहास किया है, व्यंग किया है! लेकिन मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि पौ फटने की वेला में आकाश के नीचे नदी के ऊपर खड़े होकर उनके मुँह से सत्य के सिवा और कोई वाक्य नहीं निकल सकता था।

बहुत दिनों के बाद एक दिन रात में उनके मुंह से इसी तरह का निष्कपट-सत्य-कथन मैंने सुना था। तब शायद रात के आठ बज गये थे। आचार्य राय महाशय को घर पहुंचा कर लौट कर देखा कि देशबन्धु जीने पर चुपचाप खड़े हुये हैं। बोला-एक बात कहूं, गुस्सा तो नहीं होंगे ?

उन्होंन कहा-नहीं।

मैंने कहा-बंगाल में आप लोग जो कुछ सचमुच बड़े आदमी हैं, वे परस्पर के दर्शनमात्र से ही किस प्रकार पुलक से रोमांचित कलेवर हो उठते हैं ?

देशबन्धु ने हंसकर कहा-बिल्लियों की तरह।

बोला-अपने पापी मुंह से इस बात को मैं व्यक्त नहीं करूंगा। लेकिन अगर नहीं किया जा तो......

देशबन्धु का चेहरा गम्भीर हो उठा। क्षण भर स्थिर रहकर धीरे धीरे बोल उठे-कितनी क्षति होती है, इस बात को मुझ से अधिक कौन जानता है। अगर कोई इसका रास्ता निकाल सकता है, तो मैं सब से नीचे, सब के ताबे में काम करने के लिये तैयार हूं। लेकिन धोखे से काम नहीं चलेगा, शरत् बाबू !

उसी दिन उनके चेहरे पर जो अकृत्रिम चिंता देखी थी, वह भूलने की नहीं। बाहर से जो लोग उन्हें यश का भूखा कहकर प्रचार करते

हैं, वे अनजाने ही न जाने कितना बड़ा अपराध करते हैं। और धोखा! यथार्थ में जिस व्यक्ति ने अपना सर्वस्व दे दिया उसके बदले में वह धोखे को कैसे बरदाश्त करेगा।

और एक बात कहनी है। बात अप्रिय है। सावधानी तथा अति-विज्ञता की दृष्टि से एक बार सोचा था कि कहने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन बाद में लगा कि उसकी स्मृति की मर्यादा और सत्य के लिये कह देना ही अच्छा है। इस बार फ़रीदपुर कांफ्रेंस में नहीं गया। वहाँ के सारे ब्योरों को मैं नहीं जानता। लेकिन लौटकर बहुतेरे लोगों ने मेरे सामने ऐसे मन्तव्य किये हैं, जो प्रिय भी नहीं हैं और साधु भी नहीं हैं। अधिकांश क्षोभ की बातें हैं और देशबन्धु के बारे में वह सोलहों आने असत्य है।

देश के अन्दर क्रांतिकारी गुप्त समितियों के अस्तित्व के कारण, कुछ दिनों से वे नाना दिशाओं से अपने को विपन्न समझ रहे थे। उनके लिये कठिनाई की बात यह थी कि स्वतंत्रता के लिये जिन्होंनें अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया है, उन्हें सम्पूर्ण रूप से प्यार करना, जिस प्रकार उनके लिये असम्भव था, उन्हें प्रश्रय देना भी उनके लिये उतना ही असम्भव था। उनकी चेष्टाओं को देश लिये अत्यन्त अक-ल्याणकर समझ कर वह बहुत डरने लगे थे। इस समिति के नाम से उन्होंने मुझ से एक दिन बंगला में एक अपील लिख देने के लिये कहा था। मैं लिख लाया, 'तुम लोग अगर कहीं कोई हो, अगर अपने मतवाद को सोलह अने नहीं भी छोड़ सकते तो कम से कम पांच सात वर्ष के लिये ही अपनी कार्य-पद्धति को स्थगित रखकर हमें खुल्लमखुल्ला स्वस्थ चित्त से काम करने दो, इत्यादि, इत्यादि।' लेकिन मेरे 'अगर' शब्द पर घोर आपत्ति करते हुए उन्होंने कहा—अगर की जरूरत नहीं। अगर निकाल दीजिये।

मैंने आपत्ति करते हुए कहा—आप की स्वीकारोक्ति का फल देश के लिये अत्यन्त क्षतिकर होगा।

देशबन्धु ने जोर देकर कहा—नहीं। सच कहने का नतीजा कभी भी बुरा नहीं होता।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मैं एकमत नहीं हो सका, वे जान-बूझकर ही करते हैं। लेकिन जो कुछ भी नहीं करते, सरकार के हाथों उन्हें ही अधिक दुःख उठाना पड़ता है। सुभाष, अनिल वर्ण, सत्येन इत्यादि के लिये उनके अफसोस की सीमा नहीं थी। सुभाष की कार्पोरेशन में काम देने के बाद एक दिन उन्होंने मुझसे कहा था कि मैंने कार्पोरेशन के लिये अपने सबसे अछे आदमी की कुर्बानी की है।

और उसी सुभाष को जब पुलिस पकड़ ले गई तो मुझे दृढ़ विश्वास हो गया था कि उन्हें चारों दिशाओं से अक्षम्य और अकर्मण्य कर देने के लिय ही, सरकार उनके हाथ-पैर काटकर उन्हें पगु कर रही हैं।

उनके फरीदपुर भाषण के बाद, उदार दल के लोग खुशी से कहने लगे कि अब तो कोई मतभेद नहीं रहा, आओ गले से मिलकर एक हो जाएँ। अंग्रेजी के अखबारवालों ने उनके इशारे के अर्थ का अनर्थ करके गालियाँ दी या प्रशंसा यह ठीक-ठीक समझने में नहीं आया। उनके अपने दलके कितने ही लोग मुँह फुलाये रहे। लेकिन इस सम्बन्ध में मुझे एक बात कहनी है।

असाधारण कार्यकर्त्ताओं में यह एक बड़ा दोष है कि अपने के सिवा दूसरे की कर्मशक्ति में से आस्था नहीं रख पाते। इस बार पीड़ा से जब्र तक बिस्तरे पर पडे और परलोक की पुकार जब उनके कानों में आ पहुँची, तब एक दिन मुझसे कहा था—शरत् बाबू! जिसने समझोता करना नहीं सीखा, शायद इस जीवन में उसने कुछ भी नहीं सीखा। टोरी सरकार सबसे निष्ठुर सरकार है।

संसार में ऐसा कोई भी अनाचार नहीं है जो यह नहीं कर सकती है। और समझौता कर लेने के लिये भी शायद ऐसा दूसरा दोस्त नहीं।

किन्तु भय होता है कि तब मैं नहीं रहूँगा। जलियानवावाला बाग की स्मृति क्षण भर के लिए भी उनके अन्तर से अन्तर्हित नहीं हुई।

एक बार एक सभा के बाद गाडी के अन्दर मुझसे प्रश्न किया था, कि बहुतेरे मुझे फिर वकालत करने और देश के लिए रुपया कमाने की सलाह देते हैं। आप क्या कहते हैं?

मन कहा—नहीं। रुपये के काम की सीमा है, लेकिन इस आदर्श की सीमा नहीं। आपका त्याग सदा के लिए हमारी राष्ट्रीय निधि बनी रहे। यह हमारे लिए अनगिनत रुपयों से भी बहुत बडी है।

देशबन्धु ने जवाब नहीं दिया, हँसकर चुप रहे। इस हँसी और मौन का मूल्य समझना चाहिये। इससे बडी कामना दूसरी नहीं।

२२—नामदेव माली

श्रीयुत मौलवी अब्दुल हक़

नामदेव मक़बरा[1] राबिया दुर्रानी (औरंगाबाद दक्षिण) के बाग़ में माली था। ज़ात का ढेड़[2] था, जो बहुत नीच कौम मानी जाती है। कौमों का इम्तियाज़ (विशेषताएँ) मसनूई (कृत्रिम) हैं और धीरे-धीरे आनुवंशिक हो गया है। सचाई, नेकी, हुस्न किसी की मीरास[3] नहीं। ये खूबियाँ नीची ज़ात वालों में भी ऐसी ही होती हैं, जैसी ऊँची ज़ात वालों में।

कैस हो कोहकुन हो या हाली।
आशिकी कुछ किसी ज़ात नहीं॥"

मक़बरे का बाग़ मेरी निगरानी में था। मेरे रहने का मकान भी बाग़ के अहाते ही में था। मैंने अपने बँगले के सामने चमन बनाने का काम नामदेव को सुपुर्द किया। मैं अन्दर कमरे में काम करता रहता था। मेरी मेज़ के सामने बडी-सी खिड़की थी। उसमें से चमन साफ़ नज़र आता था। लिखते-लिखते कभी नज़र उठा कर देखता तो नामदेव को सदा अपने काम में मसरूफ़ (व्यस्त) पाता। बाज़ दफ़ा उसकी चेष्टाएँ देख कर बहुत आश्चर्य होता। कभी-कभी देखता क्या कि नामदेव एक पौधे के सामने बैठा उसका थाला साफ़ कर रहा है। थाला साफ़ करके हौज़ से पानी लिया और धीरे-धीरे डालना शुरू

---

१. औरंगजेब की बेगम का मक़बरा जो औरंगाबाद में है और ताजमहल के नमूने पर बना हुआ है। २. दक्षिण की अछूत जातियों में से एक। ३. एकाधिकार।

दूर से लोग उसके पास बच्चों के इलाज के लिए आते थे। वह अपने बाग़ ही में से जडी-बूटियाँ लाकर बडी शफ़क़त (दया) और गौर से उनका इलाज करता। कभी-कभी दूसरे गाँव वाले भी उसे इलाज के लिए बुलाने आते तो फौरन चला जाता। मुफ्त इलाज करता और कभी किसी से कुछ नहीं लेता था।

वह स्वयं भी बहुत साफ़-सुथरा रहता था और ऐसा ही अपने चमन को भी रखता। इस क़दर पाक-साफ़ जैसे रसोई का चौका। क्या मजाल जो कहीं घास-फूस या कंकर-पत्थर पड़ा रहे! रौसें बाक़ायदा; थाले दुरुस्त; सिंचाई और टहनियों की काट-छाँट वक्त पर; झाड़ता-बुहारता सुबह-शाम प्रतिदिन। ग़रज़ सारे चमन को दर्पण बना रक्खा था।

बाग़ के कारकुन अब्दुल रहीम 'फैन्सी' स्वयं भी बडे कारगुज़ार और मुस्तैद व्यक्ति हैं और दूसरों से भी खींचतान कर काम लेते हैं। प्रायः मालियों को डाँट डपट करनी पड़ती है, वर्ना ज़रा भी निगरानी में ढील हुई कि हाथ पर हाथ रख कर बैठ गए या बीडी पीने लगे या छाया में जा लेटे। साधारणतया इन्सान फ़ितरतन आलसी और कामचोर वाक़अ हुआ है। आरामतलबी हम में कुछ मौरूसी-सी हो गई है। लेकिन नामदेव को कभी कहने-सुनने की नौबत न आई। वह दुनिया की बातों से बेख़बर अपने काम में लगा रहता। 'न सताइश (प्रशंसा) की तमन्ना (इच्छा), न सिले (पुरस्कार) की परवाह।'

एक साल बारिश बहुत कम हुई। कुओं और बावलियों में नाम-मात्र पानी रह गया। बाग़ पर आफ़त टूट पडी। बहुतसे पौधें और पेड़ बरबाद हो गए। जो बच रहे, वे ऐसे निढाल और मुरझाए हुए थे, जैसे दिक़ के बीमार। लेकिन नामदेव का चमन हरा-भरा था। वह दूर दूर से एक-एक घड़ा पानी का सिर पर उठाकर लाता और पौधों को सींचता। यह वह समय था कि पानी के अकाल ने लोगों के होशो-हवास गुम कर दिए थे। उन्हें पीने का पानी बडी कठिनाई से प्राप्त

होता था, मगर यह खुदा का बन्दा कहीं न कहीं से ले ही आता और अपने पौधों की प्यास बुझाता। जब पानी की क़िल्लत (कमी) और बढी तो उसने रातों को भी पानी ढो ढोकर लाना शुरू किया। पानी क्या था, यों समझिए कि आधा पानी और आधा कीचड़ होता था। लेकिन यही गदला पानी पौधों के हक़ में अमृत था।

मैंने इस अनुपम कारगुज़ारी पर उसे पुरस्कार देना चाहा तो उसने लेने से इन्कार कर दिया। संभवतः उसका कहना ठीक था कि अपने बच्चों को पालने पोसने में कोई इनाम का मुस्तहक़ नहीं होता। कैसी ही तंगी-तुर्शी हो वह हर हालत में करना ही पड़ता है।

जब आला हज़रत हुज़ूर निज़ाम की औरंगाबाद की खुश आबोहवा में बाग़ लगानें का ख़याल हुआ तो यह काम डाक्टर सैयद सिराजउल हसन (नवाब सिराज यार जंग बहादुर) नाजिम- तालीमात को दिया गया। डाक्टर साहब का जौके-बाग़बानी प्रसिद्ध था। 'मक़बरा राबिया दुर्रानी' और उसका बाग़ अपनी तरतीब वगैरह के ऐतबार से मुग़लिया बाग़ का बेहतरीन नमूना है। मुद्दत से वीरान और सुनसान पड़ा था। जंगली जानवरों का अड्डा था और झाड़ झंकाड़ से पटा पड़ा था। आज डाक्टर साहब की बदौलत सरसब्ज और शादाब और आबाद नज़र आता है। अब दूर दूर से लोग उसे देखने आते और सैरो तफ़रीह का आनन्द उठाते हैं। डाक्टर साहब का आदमी परखने में भी कमाल था। वे नामदेव के बडे क़द्रदां थे। उसे मक़बरे से शाही बाग़ में ले गए। शाही बाग़ आखि़र शाही बाग़ था। कई कई निगरान-कार और बीसियों माली। और माली भी कैसे कैसे? टोकियो से जपानी, तेहरान से ईरानी और शाम (Syria) से शामी आए थे। उन के बडे ठाठ थे। यह डाक्टर साहब का काम था। वे शाही बाग़ को वास्तव में शाहीं बाग़ बनाना चाहते थे। यहाँ भी नामदेव का वही रंग था। उसने न फ़न-ए-बाग़बानी की कहीं तालीम पाई थी और न उसके पास कोई सनद या डिप्लोमा था। अलबत्ता काम की धुन थी। काम से सच्चा लगाव था और इसी में उसकी जोत थी। शाही बाग़ में

भी उसी का काम सबसे अच्छा रहा। दूसरे माली लड़ते झगड़ते थे। सेंधी शराब पीते। यह न किसीसे लड़ता-झगड़ता, न सेंधी-शराब पीता। यहाँ तक कि कभी बीडी भी न पी। बस वह था और उसका काम।

एक दिन न मालूम क्या बात हुई कि शहद की मक्खियों की आफ़त खडी हो गई। सब माली भाग-भाग कर छुप गये। नामदेव को ख़बर भी न हुई कि क्या हो रहा है। वह बराबर अपने काम में लगा रहा। उसे क्या पता था कि मौत उस के सिर पर खेल रही है। मक्खियों का गज़बनाक झुण्ड उस गरीब पर टूट पड़ा। इतना काटा, इतना काटा के बेदम हुआ। आख़िर इसी में जान दे दी। मैं कहता हूँ, उसे शहादत नसीब हुई।

वह बहुत सादा-मिजाज़, भोला-भाला और मुनक़सिर (नम्र) मिज़ाज़ था। उसके चेहरे पर बशाशत (प्रसन्नता), होठों पर मुस्कराहट खेलती रहती थी। छोटे-बडे हर एक से झुक कर मिलता। ग़रीब था और तनख्वाह भी कम थी। इस पर भी अपने ग़रीब भाइयों की बिसात से बढ़ कर मदद करता रहता था। काम से प्रेम था और आख़िर काम करते ही इस दुनिया से रुख़सत हो गया।

ग़रमी हो या जाड़ा; धूप हो या छाया; दिन हो या रात, बराबर काम करता रहा। लेकिन उसे कभी यह ख़याल न आया कि मैं बहुत काम करता हूँ या मेरा काम दूसरों से बेहतर है। इसीलिए उसे कभी अपने काम पर मग़र या गुरूर न था। वह ये बातें जानता ही न था। न उसे किसी से वैर था, न जलन। वह सबको अच्छा समझता और सबसे मुहब्बत करता था। वह ग़रीबों की मदद करता, वक्त पर काम आता, आदमियों, जानवरों, पौधों की ख़िदमत करता, लेकिन कभी उसे यह अनुभव न हुआ कि वह कोई नेक काम कर रहा है। नेकी उसी वक्त तक नेकी है जब तक आदमी को यह न मालूम हो कि वह कोई नेक काम कर रहा है। जहाँ उसने यह समझना शुरू किया, नेकी नेकी नहीं रहती।

जब कभी मुझे नामदेव का खयाल आता है तो मैं सोचता हूँ कि नेकी क्या है और बड़ा आदमी किसे कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में प्रकृति ने कोई-न-कोई सलाहियत (योग्यता) रक्खी है। उस सलाहियत को अव्वल दर्जे के कमाल तक पहुँचाने में सारी नेकी और बड़ाई है। अव्वल दर्जे के कमाल तक न कभी कोई पहुँचा है, न पहुँच सकता है; लेकिन वहाँ तक पहुँचने की कोशिश ही में इन्सान इन्सान बनता है--वह कुन्दन बन जाता है। हिसाब के दिन जब आमाल (कर्म) की जाँच-पड़ताल होगी तो खुदा यह नहीं पूछेगा कि तू ने कितनी और किस की पूजा या इबादत की। वह किसी इबादत का मुहताज नहीं। वह पूछेगा तो यह पूछेगा कि मैंने जो इस्तादाद (शक्ति) तुझे दी थी उसे कमाल तक पहुँचाने और उससे काम लेने में तू ने क्या किया और संसार को इससे क्या लाभ पहुँचाया। अगर नेकी और बड़ाई की यह परिभाषा सही तो नामदेव नेक भी था और बड़ा भी।

था तो वह जात का ढेड़, पर अच्छे-अच्छे शरीफों से अधिक शरीफ़ था।

२१—दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़

श्रीयुत बनारसीदास चतुर्वेदी

सन् १९१४ की बात है। फर्रुखाबादकी पब्लिक लाइब्रेरीमें अखबारोंके पन्ने उलट रहा था कि 'माडर्न रिव्यू' में मि. सी. ऐफ. ऐण्ड्रूज का एक लेख नजर आया। उसमें महात्मा गान्धी जी का जिक्र था इसलिए उसे पढ़ने लगा। मि. ऐण्ड्रूजने लिखा था—

"जब हमारा जहाज़ भूमिके किनारे पहुँचा तो हमें समुद्र तटपर कितने ही हिन्दुस्तानी दीख पडे। ये सब हम दोनोंको- पियर्सनको तथा मुझे- लेनेके लिए आये हुए थे। श्री पोलकको मैं पहचान गया, क्योंकि मैं उनसे दिल्लीमें मिल चुका था। उन्हें वहाँ उपस्थित देखकर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरा खयाल था कि वे अब तक जेलमें ही होंगे। मि. पोलकने मुझसे कहा, 'सब नेता छूट गये हैं।' मैंने फौरन ही उनसे पूछा, 'गान्धी जी कहाँ हैं?' महात्माजीने जो निकट ही खडे हुए थे मुस्कराकर कहा, 'मैं ही गान्धी हूँ।' उनके दर्शन करते ही मेरे अन्तःकरणमें यही प्रेरणा हुई कि उनकी चरण-रज अपने माथेसे लगा लूं। तुरन्त मैंने यही किया। महात्माजीने मन्द स्वरमें कहा, 'कृपया ऐसा न कीजिए। ऐसा करना मुझे लज्जित करना है।' गान्धी जी उस समय सफेद धोती और कुर्ता पहने हुए थे और उनका सिर मुंडा हुआ था। ऐसा प्रतीत होता था कि वे शोक-सूचक चिन्ह धारण किये हुए है।"

इस घटनाका वर्णन करनेके बाद श्री ऐण्ड्रूज़ने लिखा था कि उनके इस कार्यपर दक्षिण अफ्रीकाके गोरे पत्रोंने बड़ा बावेला मचाया

था और एक वयोवृद्ध एडीटर साहबने तो अपने आफ़िस में बुलाकर उन्हें एक एशियावासीके चरण-स्पर्श करनेपर खासी डांट भी बतलाई थी ।

इस घटनाको पढ़कर मैंने उसी दिन अपनी श्रद्धाके पुष्प दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़के व्यक्तित्पवर अर्पित किये थे और तत्पश्चात् पच्चीस-छब्बीस वर्ष- जबतक वे जीवित रहे- मैं अपनी श्रद्धांजलि निरन्तर अर्पित करता रहा ।

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़के दर्शन करनेका सौभाग्य मुझे ३ मई सन् १९१८ को कलकत्तेमें कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरके जोरासंकोवाले भवन पर हुआ था । 'प्रवासी भारतवासी' की भूमिका लिखानेके लिए मैं उनकी सेवामें उपस्थित हुआ था । घंटे भर बात-चीत करनेके बाद उन्होंने पूछा, "क्या शान्तिनिकेतन नहीं देखोगे ?" मैंने कहा, "क्यों नहीं ? मैं तो उसे एक तीर्थ-स्थान समझता हूँ ।" तत्पश्चात् मैं बोलपुर गया और कई दिन शान्तिनिकेतनमें रहा । उसी समय सर्व-प्रथम गुरु-देवके भी दर्शन प्राप्त हुए थे । आज ३२ वर्ष बाद भी उन दिनोंकी मधुर स्मृति ज्यों-की-त्यों ताजी है । मि. ऐण्ड्रूज़ने चार-पांच घंटे पुस्तकके सुननेमें व्यय किये और तत्पश्चात् तीन-चार घंटे उसकी भूमिकाके लिखनेमें । इस प्रकार उनका उस दिनका सर्वोत्तम समय मेरे लिए ही व्यय हो गया । शान्तिनिकेतन के उस युगका क्या कहना, जब वहाँ गुरुदेव, बडे दादा, दीनबन्धु ऐण्डरूज़, शास्त्री महाशय (पं. विधु-शेखर भट्टाचार्य) और आचार्य क्षितिमोहन सेन विद्यमान थे । अब पहले तीन तो स्वर्गवासी हो चुके हैं और शेष दोनों महानुभाव वहाँ से अवकाश प्राप्त कर चुके हैं ।

तत्पश्चात् जून सन् १९२० में मुझे फिर शान्तिनिकेतन जाना पड़ा और इस बार मैं दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़के जीवन-चरितका मसाला संग्रह करनेके उद्देश्यसे वहां गया था । पन्द्रह जूनकी बात है । मैं प्रातः-कालके समय उनकी सेवामें उपस्थित हुआ था । उन्होंने कहा, 'आज

मैं तुम्हारे ही विषयमें सोचता रहा हूँ। मैंने विनम्रतापूर्वक पूछा, 'मेरे बारेमें आपने क्या बिचार किया है?' श्री ऐण्ड्रूज़ बोले, 'मेरा विचार है कि तुम अपनी राजकुमार कालेज इन्दौरकी नौकरी छोड़कर शान्तिनिकेतन चले आओ।' मैंने निवेदन किया, 'मेरे वृद्ध माता–पिता हैं, कुटुम्ब है और फिर जीविकाका प्रश्न भी है।

श्री ऐण्ड्रूज़ने उस समय बडी सहृदयतापूर्वक कहा, 'अपने पिता-जी से कहना ऐण्ड्रूज़को मेरी ज़रूरत हैं।' इन शब्दों ने मेरे पैर ही उखाड़ दिये और मैं अपनी नौकरी छोड़कर अगस्त सन् १९२० में शान्तिनिकेतन पहुँच गया।

शान्तिनिकेतनमें मुझे चौदह महीने तक दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़की सेवामें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरा कर्तव्य था उनके प्रवासी भारतीय-सम्बन्धी कार्यमें उनकी सहायता करना; पर किसीपर शासन करना मि० ऐण्ड्ज़के स्वभावके सर्वथा प्रतिकूल था और प्रत्येक व्यक्ती को पूर्ण स्वाधीनता देनेमें उनका दृढ़ विश्वास था। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था, 'तुम इसी 'वेणु कुंज' में इसी छप्परके नीचे बैठकर मेरे विरोधमें लेख लिख सकते हो। अपनी अन्तरात्माके अनु-सार जो भी ठीक जँचे वही लिखो।' जब मैं सात-साढे सात बजे उनके स्थान 'वेणु कुंज' पर पहुँचता, वे दो-ढाई घंटे काम कर चुके होते थे। दोपहरको भी, जब अन्य अनेक व्यक्ति विश्राम करते थे, मि० ऐण्ड्रूज़ अपना काम बराबर जारी रखते थे। उनके कामके घंटे १४–१५ से कम कभी न होते और प्रतिदिन सर्वथा थक कर जब वे कहते, 'आजके दिन तो हम लोगोंने ठीक काम किया', तो मुझे अपने ऊपर लज्जा आती, क्योंकि मैं छः-सात घंटेसे अधिक काम कर ही नहीं पाता था।

शाम के चार बजे का समय है। काग़ज़ और क़लम लिये हुए लम्बी-लम्बी डग भरते हुए मि० ऐण्ड्रूज़ डाकखाने की ओर भागे जा रहे हैं। डाक निकलनेका वक्त हो गया है, लेकिन चिट्ठियाँ लिखना अबतक समाप्त नहीं हुआ।

कभी वे आठ-आठ बार अपने ही लेखकी प्रति करते हुए नजर आते थे, कभी घोर दोपहरीमें इधर-से-उधर जाते हुए। बँगलामें एक लोकोक्ति है--पागल कुत्ते और अंग्रेज ही दोपहरीमें भागते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इस लोकोक्तिको सुनकर श्री एण्ड्रूज़ खूब हँसते थे।

रात का एक बजा है। शान्तिनिकेतनमें सर्वत्र सन्नाटा है। बिजलीकी रोशनी कभीकी बन्द हो चुकी है, लेकिन 'वेणुकुंज' में प्रकाश दीख पड़ता है। मेजपर डिट्ज लालटैन रखे हुए श्री एण्ड्रूज़ लेख लिख रहे हैं! क्यों? कल २५ तारीख है और 'माडर्न रिव्यू' के सम्पादक ने न्यूजीलैण्ड के प्रवासी भारतीयोंके विषय में लेख माँगा है।

बाँस के वृक्षोंके निकट एक छोटा-सा घर है। न उसमें कुछ सजावट है, न दिखावट। समाचार-पत्रोंका ढेर लगा हुआ है और किताबें तितर-बितर इधर-की-उधर पड़ी हैं। तीन-चार कुसियाँ पडी हुई हैं और कुछ मूढे भी। एक-दो कुसियाँ तो ऐसी हैं जिनपर बैठना खतरेसे खाली नहीं। एक कुर्सीका निर्बल शरीर किसी रस्सीके बल पर थमा हुआ है। मेज पर कोई कपड़ा नहीं। उस पर माता-पिताके चित्र रखे हुए हैं। शान्ति-निकेतनके विद्यार्थियोंके भेट किये हुए फूल भी हैं। दावात, होल्डर, चाकू, किताब, अखबार और छोटा-सा सन्दूक भी उसी पर रखा हुआ है। समाचार-पत्रोंके इस गड़बड़ समुद्रमें श्री एण्ड्रूज़का चश्मा खो गया है और घबराये हुए आप इधर-उधर तलाश कर रहे हैं! पूछते हैं, "तुमने हमारा चश्मा तो नहीं देखा?"

एक बार जब गान्धी जी कलकत्तेकी स्पेशल कांग्रेसके बाद शान्ति-निकेतन पधारे थे, नियमानुसार मि० एण्ड्रूज़ का चश्मा खो गया। घबराते हुए वे गांधी जी के कमरेमें आये और बोले, 'मैं आपसे बातचीत करने आया था। कहीं मेरा चश्मा तो नहीं रह गया?' मौलाना शौकत अलीके चश्मेका घर वहीं रखा हुआ था। गांधीजीने मि० एण्ड्रूज़से कहा, 'देखिये, यह तो नहीं है?' मि० एण्ड्रूज़ने चश्मा निकालकर लगा लिया और कहा, 'हाँ, बस यही है।' फिर आपने उस चश्मेके घरमें रखा हुआ एक तार

देखा, जो मौलानाके नाम था। तब आप बोले, 'यह चश्मा मेरा नहीं है। यह तो मौलाना शौकत अलीका होगा।' गांधी जी और पूज्य कस्तूरबा इत्यादि जो भी व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे, खूब खिलखिलाकर हँसने लगे। फिर बाने एक चश्मेका घर देते हुए कहा, 'देखो, इसमें तो नहीं है तुम्हारा चश्मा?'

श्री ऐण्ड्रूज़ने चश्मेका घर खोला तो उसमें कोई चश्मा था ही नहीं। वह खाली था। श्री ऐण्ड्रूज़ लज्जित हो गये और फिर अट्टहास हुआ! गांधीजीको खूब हँसते हुए देखकर मि० ऐण्ड्रूज़ बोले, 'मेरा तो चश्मा खो गया है और आप लोग हँस रहे हैं! इसमें हँसनेकी कौन-सी बात है?' गांधी जी ने फिर हँसकर कहा, 'चश्मा तुम्हारा खो गया है, हमारा नहीं। हमारे लिए तो यह हँसीकी बात ही है।'

एक बार मि० ऐण्ड्रूज़को ज्वर आ गया; पर उस दशामें भी उन्हें विश्राम कहाँ! उन्होंने बोलकर तीस-बत्तीस पत्र लिखा डाले!

यह देखकर अत्यन्त दुःख होता था कि बहुत दिनों तक हमारे देशवासी मि० ऐण्ड्रूज़ को ब्रिटिश सरकारका खुफ़िया ही समझते रहे और उधर भारत सरकार भी उनपर निरन्तर अविश्वास ही करती रही। जहाँ कहीं वे जाते, सी० आई० डी० के आदमी उनका पीछा करते। सन १९०७ में उन्होंने खुद एक आदमीको, जो खुफ़िया पुलिसका था, रँगे हाथ पकड़ लिया था। वह उनकी मेज़की दराजमें हाथ डाले हुए था! जब मि० ऐण्ड्रूज़ने उसे धमकाया तो डर कर उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया कि पुलिस विभागने उसे भेजा था। जब मि० एण्ड्रूज़ने दिल्लीके कमिश्नर साहबको इस बारेमें क्रोधपूर्ण पत्र लिखा तो उनका उत्तर आया, 'वह आदमी मेरी पुलिसका नहीं था!

पूर्व अफ्रीकामें तो रेल-यात्राके समय एक स्टेशनपर गोरे लोगोंने मि० ऐण्ड्रूज़की बडी दुर्दशा की थी। उनको अपने डिब्बेसे घसीटकर वे प्लेटफार्मपर लाना चाहते थे और मि० ऐण्ड्रूज़ने लोहेकी जंजीर पकड़ रखी थी। उनकी दाढी पकड़ कर खूब नोची गई। इस

दुर्घटनासे उन्हें ज्वर हो आया था। बादको यह प्रश्न ब्रिटिश पार्लामेंटमें भी उठाया गया था।

शान्तिनिकेतन में भी कितने ही व्यक्ति मि. ऐण्ड्रूज़ पर अविश्वास करते थे और महात्माजीने इस अविश्वासको अनेक अंशोंमे दूर किया था।

एक बार पूर्व अफ्रीकाके 'डेमोक्रेट' नामक भारतीय पत्रने मि० ऐण्ड्रूज़ पर यही नीचतापूर्ण आक्षेप इतने भद्दे ढंगपर किया था कि वे तिलमिला उठे थे। फिर अमेरिकामें भी यही हुआ था। पर वे इस निन्दाके अभ्यस्त हो चुके थे और उन्होंने उसे शान्तिपूर्वक सहनेका ही प्रयत्न किया। फरवरी १९३० में उन्होंने अपने पत्रमें मुझे लिखा था–

'दरअसल लोगोंमें मेल–जोल कराना बहुत ही मुश्किल काम है। पर यह किसने कहा था कि यह आसान होगा? मैंने अपने ऊपर किये हुए इस आक्षेपके बारेमें किसीको नहीं लिखा, क्योंकि उसे भुला देना ही ठीक होगा। दुर्भाग्यकी बात है कि इस प्रकार के आक्षेपसे महान् अहित होगा, यद्यपि अन्तमें इससे कुछ भलाई ही होगी। मुझे एक बातकी खुशी है, वह यह कि इस बार मैं वैसा उद्विग्न नहीं हुआ, जैसा पूर्व अफ्रीकाके 'डेमोक्रेट' वाले मामलेमें हुआ था। इस बार मैं धैर्य धारण कर सका और शान्त भी रहा और गीता तथा 'निष्काम कर्म' की महिमाको इस बार मैंने बेहतर तौर पर समझा।'

इस प्रकारके अविश्वासमय वातावरणमें मि० ऐण्ड्रूज़को बहुत वर्षों तक काम करना पड़ा। उनके जीवनके पूरे ३६ वर्ष भारतभूमिकी सेवा करते हुए बीते। यदि उनकी समस्त सेवाका पूरा–पूरा विवरण तैयार किया जाए तो भारतके इने-गिने नेताओंको छोड़कर मि० ऐण्ड्रूज़का कार्य किसीसे भी पीछे न रहेगा। ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहाँ भारतीय नेता स्वदेशके लिए तप और त्याग कर रहे थे, श्री ऐण्ड्रूज़ने मनुष्यताके उच्चतर धरातलपर इस भूमिकी सेवा की थी।

सन् १९२०में गांधीजीने 'भारतभक्त ऐण्ड्रूज़' की भूमिकामें लिखा था- "यदि धृष्टता न समझी जाय तो मैं अपना यह विश्वास लिपिबद्ध कर देना चाहता हूँ कि सी० एफ० ऐण्ड्रूज़से ज्यादा सच्चा, उनसे बढ़कर विनीत और उनसे अधिक भारतभक्त इस भूमि में कोई दूसरा देश सेवक विद्यमान नहीं।"

और हमारे प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरूने भी आत्मचरित में बडी श्रद्धापूर्वक इस बात का ज़िक्र किया है कि मि० ऐण्ड्रूज़ की पुस्तक 'इंडियन इंडिपेन्डेन्स-इट्स इमीडिएट नीड' (भारतीय स्वाधीनता और इसकी तुरन्त आवश्यकता) ने भारतीय भावनाओं को बडी खूबी के साथ प्रकट करके भारतीयोंकी हृत्तंत्री को झंकृत कर दिया था।

यह बात भी भूलनेकी नहीं है कि दो बार मि० ऐण्ड्रूज़ने महात्माजी के उपवासके दिनों में उनके प्राण बचाने में बडी भारी सहायता दी थी। जब बन्धुवर श्री श्रीराम शर्मा ने सेवाग्राममें महात्मा-जीसे पूछा, 'ऐण्ड्रूज़ साहबने भारत की जो सेवाएँ की हैं, उनमें मुख्य क्या है ? तो उन्होंने उत्तर दिया, "मेरे पास अवकाश हो तो मैं उसका गुनगाण जिन्दगी भर करूं।"

जनवरी सन् १९४० में मुझे शान्तिनिकेतन जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तुलसी लाइब्रेरी के मन्त्री श्रीयुत धावले जी मेरे साथ थे। इस बार मैंने अपने कॅमरासे दीनबन्धु एण्ड्रूज़के कई चित्र लिये थे। अकस्मात् एक दिन मेरे मुँहसे निकल गया, "आज तो मेरा जन्म-दिवस है।" मैं यों ही मज़ाक कर रहा था, यद्यपि वह था जन्म-दिवस ही। मि० ऐण्ड्रूज़ बोले, "तो मैं तुम्हें अच्छी चाय पिलाऊँगा और कुछ भेंट भी दूंगा।" मैंने इसे मज़ाक ही समझा, पर मि० ऐण्ड्रूज़ ने सचमुच बहुत बढ़िया चाय बनवाई और उसके साथ मिठाई और फलोंका भी प्रबन्ध किया। मुझे अपने मज़ाक पर लज्जित होना पड़ा, पर चौबे होने के कारण मैं मिठाई का मोह छोड़ नहीं सका। मैंने डटकर भोजन किया।

उस दिन भी मि० ऐण्ड्रूज़ दिन भर एक लेख लिखते रहे, जो शान्ति-निकेतनके हिन्दी भवनपर था और जब शामको मैं पहुँचा तो कहा "यह भेंट तुम्हारे जन्मदिवस के लिए है।" और फिर एक दूसरी भेंट भी दी वह थी 'क्राइस्ट इन साइलेन्स' ('शांति में ईसा') नामक अपनी पुस्तक।

अपनी भूलसे मैं उस ग्रंथ को उनकी मेज़पर ही छोड़ आया। रात को साढे आठ बजे थे। आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा बन्धुवर हज़ारीप्रसाद जी द्विवेदी के साथ मैं हिन्दी-भवन में बैठा हुआ था कि उधरसे लालटेन हाथ में लिये श्री ऐण्ड्रूज़ आते हुए नज़र आये। पहुँचते ही उन्होंने उलाहना दिया कि अपनी भेंट तुम वहीं छोड़ आये थे! और फिर द्विवेदीजी को मेरे जन्म-दिवस की बात भी सुना दी। द्विवेदीजी को भी मज़ाक सूझा। वे बोले, "इन्होंने हमें बताया भी नहीं चुपचाप ही सारीं मिठाई खा ली!" खूब हँसी हुई। मेरी छडी वहीं रखी थी। श्री ऐण्ड्रूज़ने उसे उठाकर पीठपर छुआते हुए कहा– "यह भूल तुमने क्यों की? अपने जन्मदिवसकी बात इनसे क्यों छिपाई?" हम सब खूब हँसते रहे।

अपनी लालटेन लिये हुए मि० ऐण्ड्रूज़ अपनी कुटी को लौट गये। आचार्य क्षितिमोहन सेनने कहा, "कितने प्रेमी जीव हैं ये!" मैं उन्हें जाते हुए देख रहा था। वही उनके अन्तिम दर्शन थे। उस दिन १२ जनवरी थी। ५ अप्रैल १९४० को उनका देहान्त हो गया।

———

२४–दक्खिनी का साहित्य

श्री राजकिशोर पाण्डेय

सैय्यद मुहम्मद हुसैनी दक्खिनी के प्रथम साहित्यकार माने जाते हैं। सन् १४०० के आस-पास इन्होंने दक्खिनी--गद्य में कुछ रिसाले लिखे जिनमें सूफी मत के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। यद्यपि इन रिसालों की भाषा में अरबी फ़ारसी प्रचुर है और इनका साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्व नहीं है तथापि प्राचीन होने के कारण भारत की आधुनिक भाषाओं में गद्यसाहित्य के इतिहास की दृष्टि से इन रिसालों का विशेष महत्व है। सैय्यद मुहम्मद हुसेनी की लिखी हुई गजलें और कुछ शेर भी उपलब्ध हैं किन्तु उनकी संख्या बहुत थोडी है और उनमें साहित्यिकता की अपेक्षा दार्शनिकता और धार्मिकता अधिक है।

निज़ामी की मसनवी 'कदम राव और पदम' को दक्खिनी की प्रथम साहित्यिक कृति कहा जा सकता है। निजामी निजाम शाह बहमनी (१४६१-६३) का दरबारी शायर था। सम्भवतः इसने अपना 'निजामी' उपनाम निजाम शाह के ही नाम पर रखा था।

इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी में दक्खिनी गद्य और पद्य दोनों में रचनाएँ प्रारम्भ हो गई। करीब चार सौ वर्षों तक दक्खिनी में साहित्य निर्माण की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही। इन चार सौ वर्षों में दक्खिनी साहित्य के चार प्रमुख केन्द्र थे :

गुलबर्गा, बीजापुर, गोलकुण्डा और औरंगाबाद।

गुलबर्गा में बहमनी वंश का राज्य स्थापित होने के बाद बहुत से साहित्यकार और सूफी फ़कीर गुलबर्गा की ओर आकृष्ट हुए। साहित्य-

कारों का उद्देश्य दरबार में राज्याश्रय प्राप्त करना और सूफी फ़कीरों का उद्देश्य सूफी मत एवं इस्लाम का प्रचार था। वे राजधानी को केन्द्र बना कर संगठित रूप में अपने विचारों का प्रचार करना चाहते थे। गुलबर्गा का जो गद्य–साहित्य उपलब्ध है; वह सय्यद मुहम्मद हुसेनी और उनके शिष्यों का लिखा हुआ है और उसमें सूफी मत के सिद्धान्तों का विवेचन है।

बीजापुर में आदिल शाही बादशाहों के साहित्य प्रेम के कारण सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में दक्खिनी साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। आदिल शाही राज्य का संस्थापक यूसुफ आदिल शाह स्वयं एक अच्छा कवि और संगीत प्रेमी था। उसने बहुत से भारतीय कवियों को अपने दरबार में आश्रय दिया और तुर्किस्तान एवं ईरान के बहुत से शायरों को अपने यहाँ आने के लिए निमन्त्रित किया।

इब्राहीम आदिल शाह द्वितीय (१५८०–१६२६) का शासन काल साहित्य और कला की उन्नति की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। इसकी 'नवरस' नाम की पुस्तक साहित्य और संगीत–दोनों दृष्टियों से बड़ा महत्व रखती है। उसने अपने दरबार में देश-विदेश के बहुत से कवियों, चित्रकारों और गवैयों को आश्रय दे रखा था। बादशाह को 'नवरस' शब्द से विशेष प्रेम था। उसने अपने सिक्कों का नाम 'नवरस' रखा; बीजापुर के एक खास मुहल्ले का नाम उसके समय में 'नवरस' था और वह भवन जिसमें वह रहता था उसका नाम भी 'नवरस' था।

इस वंश का सातवाँ बादशाह अली आदिल शाह द्वितीय (१५५६–१६७२) स्वयं भी एक शायर था। उसका उपनाम 'शाही' था। उसकी रचनाओं का एक संग्रह 'कुल्लियात' नाम से उपलब्ध है, जिसमें क़सीदे, मसनवी, ग़ज़ल, रेख्ती, रुबाई आदि अनेक प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। वह अपने दरबारी कवियों की रचनाओं का सुधार किया करता था, जिसके कारण लोग उसे 'आलिमों का उस्ताद' कहा करते थे।

आदिल शाही बादशाहों के साहित्य प्रेम के कारण बीजापुर म एक साहित्यिक वातावरण बन गया था जिसके कारण वहाँ ऊँचे साहित्य का निर्माण हो सका। गुलबर्गा का अधिकांश साहित्य तसब्बुफ़ एवं इस्लाम धर्म से सम्बन्ध रखने वाला है। किन्तु बीजापुर में सूफी फकीरों के अतिरिक्त आतशी, मुकीमी, अमीन, दौलत, नूरी, शौकी, खुशनीद, रुस्तमी, मलिम, हाशमी आदि पचीसों शायरों की रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिन्हें साहित्यिक दृष्टि से ऊँचा स्थान प्राप्त है।

बीजापुर के साहित्यिक वातावरण का प्रभाव वहाँ के सूफी फ़कीरों पर भी पड़ा। उन्होंने तसव्वुफ़ और मज़हब के खुश्क मसलों को भी साहित्यिकता प्रदान की। इस प्रकार की रचनाओं में शाहमीराँ जी शमसुल उश्शाक़; शाह बुरहानुद्दीन जानम और अमीनुद्दीन आला की कुछ रचनाओं का नाम लिया जा सकता हैं।

बीजापुर राज्य की स्थापना के २८ वर्षों के बाद सन् १५१८ में गोलकुण्डा में कुतुबशाही वंश की स्थापना हुई। बीजापुर के बादशाहों की भाँति गोलकुण्डा के बादशाह भी साहित्य और कला के बड़े प्रेमी थे। इस वंश के संस्थापक सुलतान कुली के जीवन का अधिकाँश भाग यद्यपि युद्ध करने और राज्य को व्यवस्थित करने में व्यतीत हुआ फिर भी उसने साहित्य की उन्नति में योग दिया। फ़रिश्ता ने लिखा है कि उसने गोलकुण्डा में ' ऐश खाना ' नाम का एक विशेष भवन बनवाया था; जिसमें कवि एकत्रित होकर अपनी रचनाएँ सुनाते थे। बादशाह स्वयं उन मुशायरों में उपस्थित होता था।

गोलकुण्डा के बादशाहों में इब्राहीम कुली कुतुबशाह; मुहम्मद कुली कुतुबशाह; मुहम्मद कुतुबशाह और सुलतान अब्दुल्ला अपने साहित्य एवं कला-प्रेम के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

उस समय के प्रसिद्ध इतिहासकार इब्राहीम शीराजी ने इब्राहीम कुली कुतुबशाह की बड़ी प्रशंसा की है। इब्राहीम शीराजी बीजापुर का दरबारी इतिहासकार था। उसे कई बार बीजापुर के राजदूत की

हैसियत से गोलकुण्डा जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। उसने लिखा है कि इब्राहीम कुतुबशाह ने बहुत से मदरसे स्थापित किए; जिनमें निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध था। बादशाह कवियों और विद्वानों का बड़ा सम्मान करता था। जब कभी उसके बाग़ में फल निकलते; तो वह उनका अधिक भाग दरबार के कवियों और विद्वानों के पास भेज दिया करता। उसने अपने पुस्तकालय के लिए एक विशेष भवन का निर्माण कराया था। उस भवन के सात भाग थे। उस भवन के एक बडे भाग में दरबार के शायरों और विद्वानों के रहने के स्थान थे; जहाँ वे साहित्य चर्चा किया करते थे।

हैदराबाद नगर का बनाने वाला सुलतान मुहम्मद कुली कुतुबशाह (१५८०-१६११) दक्खिनी, तेलुगु और फ़ारसी का अच्छा विद्वान् एवं कवि था। उसकी रचनाओं का एक संग्रह 'कुल्लियात' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें शेरों की संख्या पाँच हज़ार है। तत्कालीन इतिहास से पता चलता है कि उसके शेरों को राजमहलों और मजलिसों में गाया जाता था। बहुत से शायर उसके तर्ज पर शेर लिखते और उसकी शायरी की प्रशंसा में गज़लें लिखते थे।

मुहम्मद कुली ने अपने चारों तरफ़ इस प्रकार का वातावरण पैदा कर दिया था कि वह शायरी करने के लिए विवश था। उसने अपने अेक शेर में लिखा है :

"कतुबशाह रोज़ ऐसे ही शेर कहता है जैसे नदी में लहरें उठती हैं किन्तु न तो नदी की गति में अन्तर पड़ता है और न लहरों का वेग ही कम होता है।"

यही कारण है कि मुहम्मद कुली की कविता में सादगी, स्वाभाविकता और प्रवाह है। उसने अपने समय की कविता को एक नई दिशा की ओर मोड़ा। उस समय तक अधिकाँश कविता धार्मिक विषयों पर होती थी। उसने कविता के लिए नए नए विषयों को चुना और हिन्दू मुसलमानों के रीति रिवाजों, त्यौहारों एवं प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन बडी सुन्दरता के साथ किया।

मुहम्मद कुतुबशाह (१६१२-२६) फ़ारसी और दक्खिनी का अच्छा कवि था। वह फ़ारसी में 'जिलुल्ला' और दक्खिनी में 'कुतुबशाह' उपनाम से कविता करता था। इसका एक दीवान फ़ारसी का और दूसरा दक्खिनी का सालारजंग पुस्तकालय हैदराबाद में उपलब्ध हैं।

मुहम्मद कुली की भांति इसकी रचनाओं में भी भाषा की सादगी और शैली का सौंदर्य दिखलाई पड़ता है।

कुतुबशाही शासकों का शासन काल दक्खिनी साहित्य के इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण समय हैं। दक्खिनी गद्य और पद्य में विभिन्न प्रकार के साहित्यों का निर्माण जितना कुतुबशाही शासकों के समय में हुआ उतना कभी नहीं हुआ। इस काल के कवियों ने विभिन्न शैलियों मसनवी, कसीदा, ग़ज़ल और रुबाई आदि में जो रचनाअें कीं वे दक्खिनी साहित्य की अमर निधि हैं।

विषय की दृष्टि से भी इस समय का साहित्य अनेक प्रकार का हैं। अेक ओर सूफी फ़कीरों ने धर्म और दर्शन के ऊंचे तत्वों को लोगों के सामने रखा और दूसरी ओर दरबारी कवियों ने प्रेम और सौंदर्य अेवं अन्य सांसारिक विषयों को अपनी कविता का विषय बनाया।

वजही की 'कुतुब मुश्तरी', ग़वासी की 'सैफुल मुल्क', इब्ब निशाती की 'फूलबन', जुनैदी की 'माहपैकर', तबई की 'बहराम व गुल अन्दाम', और गुलाम अली को 'पद्मावत' कुतुबशाही शासन काल की प्रमुख काव्य कृतियाँ हैं।

कुतुब शाही शासन काल का गद्य भी कई दृष्टियों से पहले के लिखे गए गद्य की अपेक्षा विशेष महत्वपूर्ण है। बीजापुर और गुलबर्गा का जो गद्य उपलब्ध है, वह धार्मिक एवं दार्शनिक है। अब तक गद्य लिखने में लेखक का मुख्य उद्देश्य धर्म प्रचार एवं सूफी मत के दार्शनिक तत्वों का विवेचन करना रहता था। किन्तु गोलकुण्डा में ऐसे गद्य का प्रारम्भ हुआ जिसका महत्व साहित्यिक है। यद्यपि अब तक उपलब्ध गद्य की इस प्रकार की पुस्तकों में केवल वजही के 'सबरस' का नाम लिया जा सकता हैं, किन्तु 'सबरस' की शैली को देखते हुए यह

निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह इस परम्परा की पहली पुस्तक नहीं हो सकती।

इस काल को 'आरोग्य शास्त्र' पर भी लिखी हुई एक छोटी सी पुस्तक गद्य में प्राप्त है। वह पुस्तक है आबिद शाह की (मआलिजात ख्वाजा बन्दा नवाज़)। सम्भव है इस प्रकार की अन्य भी पुस्तकें लिखी गई हों, जो अब उपलब्ध नहीं हैं किन्तु इस पुस्तक से इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि इस काल में दक्खिनी गद्य का प्रयोग विभिन्न प्रकार के विषयों का वर्णन करने के लिए किया जाने लगा था।

गोलकुण्डा के गद्य लेखकों में वजही, मौ. अब्दुल्ला, मीराँ जी खुदानुमा, मीराँ याकूब और आबिद शाह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सन् १६३७ से १८०० तक औरंगाबाद राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से दक्षिण भारत का बड़ा नगर रहा है। सन् १६१६ में अहमद नगर का राज्य मुग़ल साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। शाह-जहाँ ने सन् १६३७ में औरंगजेब को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया। उसने 'खिरकी' को अपना सदर मुकाम बनाया और उसका नाम औरंगाबाद रखा। बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों के पतन के बाद औरंगाबाद का महत्व अधिक बढ़ा और बीजापुर एवं गोलकुण्डा के ही नहीं बल्कि उत्तर भारत के भी बहुत से शायर औरंगाबाद की ओर आकृष्ट हुए।

औरंगाबाद के कवियों में 'वली' और 'सिराज' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वली औरंगाबाद में ही उत्पन्न हुए जहाँ २० वर्ष तक विद्योपार्जन करते रहे। इसके बाद अहमदाबाद गए जो उस समय विद्या और कला का केन्द्र था और शाह वजीहुद्दीन के मदरसे में, जहाँ लोग दूर-दूर से ज्ञानोपार्जन के लिए आते थे, प्रविष्ट हुए और कुछ समय के अनन्तर इस वंश के शिष्य हो गए। कुछ दिनों के बाद, औरंगाबाद आकर उन्होंने कविता प्रारम्भ की। वली ने सन् १७२६ में 'दहे मज़लिस'

नाम की एक मसनवी की रचना की जो कर्बला के शहीदों की प्रशंसा में है। 'गुलशने हिन्द' के लेखक ने वली के एक दीवान की भी चर्चा की है। वली की रचनाओं में काव्य के प्रायः सभी रूप–ग़ज़ल, कसीदा, मसनवी, रुबाइयाँ आदि देखने में आते हैं। उनकी शायरी में सादगी और सरलता है। भाषा में प्रवाह और स्वाभाविकता है।

सन् १७०० के आस पास वली दिल्ली गए उस समय तक उन्होंने अपने 'रेख्ता–दीवान' की रचना कर ली थी। 'रेख्ता–दीवान' का दिल्ली में बड़ा आदर हुआ। उसकी यहाँ तक प्रसिद्धि हुई कि महफ़िलों और बाज़ारों में उसके शेर लोगों की ज़बान पर थे।

सिराज की 'बोस्ताँ ख़याल' नाम की एक मसनवी उपलब्ध है। इस मसनवी का रचना-काल १७६२ है। इसमें इन्होंने गुल और बुलबुल के रूपकों के सहारे आध्यात्मिक भावनाओं को व्यक्त किया है।

सिराज को अपनी रचनाओं पर अभिमान था किन्तु वली का इन्होंने सम्मान किया है। एक बार इन्होंने कहा था।

"तुझ मिस्ल ऐ सिराज; बाद वली कोई साहब सखुन न रच्या।"

वली और सिराज के बाद दक्खिनी फारसी प्रचुर और दिल्ली की उर्दू से प्रभावित होने लगी और दक्खिनी के क्षेत्र में भी साहित्यिक भाषा का स्थान धीरे धीरे उर्दू ग्रहण करने लगी।

विषय की दृष्टि से दक्खिनी में लिखे गए काव्यों को मसनवी; क़सीदा और मरसिया– इन तीन भागों में बाँटा जा सकता है। दक्खिनी की मसनवियाँ फ़ारसी मसनवियों की प्रणाली पर लिखी गई हैं और उनके कथानक का आधार फ़ारसी और भारतीय कथाएँ हैं। इन मसनवियों में कुछ तो मौलिक हैं और कुछ फ़ारसी से अनूदित हैं।

'क़सीदे' फ़ारसी क़सीदों के अनुकरण पर लिखे गये हैं। अधिकांश क़सीदों में भाषा अतिशयोक्ति पूर्ण और रूपक एवं उपमा का प्रयोग अधिक है।

दक्खिनी में लिखे गए मरसियों पर अरबी और फ़ारसी के कवियों का प्रभाव है। इन मरसियों में वजही, ग़वासी, लतीफ़, शाही, नूरी

और हाशमी के मरसिए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें युद्धों के सजीव चित्र हैं और ये करुण-रस से ओतप्रोत हैं।

दक्खिनी गद्य में इस्लाम और तसव्वुफ से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकें अधिक हैं। जो पुस्तकें इस्लाम के प्रचार के लिए लिखो गई हैं उनमें रोज़ा, नमाज़ एवं अन्य धार्मिक कृत्यों का वर्णन है। तसव्वुफ़ से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकों में सूफी मत के अनुसार खुदा को प्राप्त करने के साधनों एवं खुदा और जीव के सम्बन्धों आदि का विवेचन किया गया है।

दक्खिनी गद्य में व्यावहारिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकों की संख्या कम है। आबिद शाह की रचना 'मआज़ात ख्वाजा बन्दा नवाज़' की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। यह सोलह पृष्ठों की एक छोटी पुस्तक है और औषधि शास्त्र से सम्बन्ध रखती है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में कुछ ऐसी बातें लिखी गईं जिनका वर्ण्य-विषय व्यावहारिक विषयों से सम्बन्धित है। इन पुस्तकों में 'हैदरनामा' और 'आईन अफ़वाज कम्पनी' एवं इतिहास की कुछ पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

'हैदरनामा' में हैदरअली एवं टीपू का जीवन-वृत्त एवं उनकी लड़ाइयों का वर्णन है। इस पुस्तक को एक प्रति 'इंडिया ऑफिस' के पुस्तकालय में उपलब्ध है।

'आईन अफ़वाज कम्पनी' में मद्रास में अंग्रेजी फौज के लिए बनाए गए नियमों को दक्खिनी गद्य में लिखा है। इस पुस्तक की एक प्रति पेरिस के पुस्तकालय में उपलब्ध है।

दक्खिनी गद्य में लिखी हुई कुछ कहानी की पुस्तकें भो मिलती हैं। कहानियों का मूल स्रोत फ़ारसी, अरबी और संस्कृत की कहानियाँ हैं। कहानी की प्रायः सभी पुस्तकें फ़ारसी की पुस्तकों के अनुवाद या संक्षिप्त रूपान्तर हैं। कहानो की पुस्तकों में 'क़िस्सा गुल व हुरमज़', 'अखलाक़ हिन्दी', 'क़िस्सा अनार रानी', 'कामरूप काम लता', 'तूती-नामा' और 'सबरस' विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं।

साहित्यिक दृष्टि से वजही की रचना 'सबरस' विशेष महत्व पूर्ण है। इस पुस्तक का रचना काल १६३६ ई है और इसका कथानक फ़ताही की फ़ारसी रचना 'हुस्न व दिल' के कथानक पर आधारित है।

दक्खिनी साहित्य उर्दू की अपेक्षा भारतीय वातावरण से आधिक प्रभावित है। यद्यपि कवियों ने फ़ारसी शैली–मसनवी; क़सीदा; मरसिया आदि, का प्रयोग किया किन्तु उनका झुकाव हिन्दी शब्दों के प्रयोग और भारतीय परंपराओं की ओर बना रहा। कवियों और लेखकों ने ऐसी उपमाओं और रूपकों का प्रयोग अधिक किया है; जो भारतीय वातावरण के हैं। स्त्री की ओर से पुरुष के प्रति प्रदर्शन; संसार को जीव के मैके और परलोक को सुसराल के रूप में समझना आदि भारतीय साहित्य की विशेषताएँ दक्खिनी साहित्य में दिखलाई पड़ती हैं।

दक्खिनी के अधिकांश साहित्यकार मुसलमान थे किन्तु उन्हें भारतीय रीति–रिवाजों; हिन्दू त्यौहारों एवं हिन्दू परंपराओं का अच्छा ज्ञान था। इब्राहीम आदिलशाह ने अपनी 'दिवस' नाम की पुस्तक में सरस्वती; हनूमान् आदि हिन्दू देवताओं का वर्णन एवं उनकी स्तुति बडे सुन्दर शब्दों में की है।

लेखकों का परिचय

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म सन् १८६१ ई. में हुआ। आप आधुनिक युग में केवल भारत ही के सर्वश्रेष्ठ कवि नहीं वरन् संसार के श्रेष्ठ कवियों में थे। आपकी मूल रचनायें बंगला में हैं, परन्तु आज वे संसार की लगभग सभी भाषाओं में अनूदित होगई हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की एक श्रेष्ठ कवि, उच्चकोटि के विचारक, दार्शनिक एवं साहित्यिक के रूप में संसार में ख्याति है। उनकी प्रतिभा एवं व्यक्तित्व सार्वभौम था और उन्होंने साहित्य के सभी अंगों को जपनी अमूल्य निधियों से सजाया है। साहित्य उन्होंने जिस अंग को छुआ उसी कौ समृद्ध कर दिया। भारत के गौरव विश्वकवि रवीन्द्रनाथ का देहावसान सन् १९४० ई. में हुआ।

श्रीयुत प्रताप नारायण मिश्र

श्रीयुत प्रताप नारायण मिश्र का जन्म सं. १८१३ ई. में कानपुर के बैजेगाँव में हुआ। आपको संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी की साधारण शिक्षा मिली थी। उर्दू फारसी का भी कुछ अभ्यास आपने किया था। सं. १८४० में कानपुर से आपने 'ब्राह्मण' नामक पत्र निकाला जो १० वर्ष चला। आपने 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन किया। ३८ वर्ष की अल्पायु में ही सं. १८५१ ई. में आपका देहासान हुआ।

यद्यपि भारतेन्दु बा. हरिश्चन्द्र को आदर्श मानकर आपने गद्य पद्य लिखना आरम्भ किया तथापि आपकी शैली भारतेन्दु बाबू की शैली मे

कुछ भिन्न होगई। हास्य, व्यंग और विनोद आपके निबन्धों की विशेषता है। आपकी भाषा साधारण बोलचाल की व्यंग पूर्ण, चटपटी तथा मुहावरेदार है। पर गंभीर विषयों पर लिखते समय आपने संयत और साधुभाषा का भी प्रयोग किया है। आम बडे हँसमुख और मनमौजी थे। हर विषय में विनोद और मनोरंजन की साथ भी ढूंढ लेते थे। आपके व्यंग बडे चुटीले होते थे। आपको हिन्दी और हिन्दुस्तान के प्रति बहुत प्रेम था।

गद्य पद्य और नाटक मिलाकर आपन लगभग ४० पुस्तकों की रचना एवं अनुवाद किया है। इनमें 'भारत दुर्दशा' 'राजसिंह" 'मनकी बहार' 'हठी हमीर' 'तृण्यन्ताम्' 'निबन्ध नवनीत के नाम से प्रकाशित हुअी हैं।

श्रीयुत बालमुकुन्द गुप्त

श्रीयुत बालमुकुन्द गुप्त का जन्म रोहतक जिले (पंजाब) के गुरयानी गाँव मे सं. १८२२ ई. में और मृत्यु सं. १८८४ में हुई। आप बडे अनुभवी और कुशल सम्पादक थे। पहले स. १८८४ ई. में चुनार से निकलने वाले उर्दू अखबार 'अखबारे चुनार' तथा सं. १८४५ ई. में लाहौर के उर्दू अखबार 'कोहेनूर' के सम्पादक हुए। इन्हीं दिनों हिन्दी के आंदोलन से प्रभावित हो हिन्दी सीखकर कालाँकाकर के हिन्दी दैनिक 'हिन्दुस्तान' में आगए। शीघ्र ही कलकत्ते के प्रसिद्ध संवादपत्र 'बंगवासी' के सहायक सम्पादक होगये तथा पाँच वर्ष यही कार्य करते रहे। उसके पश्चात् सं. १८५४ ई. में 'भारतमित्र' के प्रधान सम्पादक हुए और मत्यु-पर्यंत सम्पादन करते रहे।

ये बडे चतुर और विनोदशील थे। देश की सामयिक और राजनीतिक परिस्थिति के प्रति एक देशानुरागी की भाँति सजग रहते थे। अपनी विनोद और व्यंगपूर्ण रचना 'शिवशम्भु के चिट्ठे' में इन्होंने देश की दशा पर बडे तीखे और मार्मिक व्यंग किये हैं। इनकी छेड़

छाड़ और चुहलबाजी बडीं मनोरंजक होती थी। इन्होंने एक बार श्री. महावीर प्रसिद्ध द्विवेदी के कुछ प्रयोगों की आलोचना करते हुए 'आत्माराम' के नाम से एक लेखमाला निकाली। उत्तर में, गम्भीर प्रकृति के द्विवेदी जी को भी 'सरगौ नरक ठेका नी नाहिं' शीर्षक देकर 'कल्लू अल्हइत' के नाम से एक विनोदपूर्ण अल्हा लिखना पड़ा।

'शिवशम्भु के चिट्ठे' के अतिरिक्त 'हरिदास' 'मडेल भगिनी' 'रत्नावली नाटिका' आदि कई रचनाएँ एवं अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। निबन्धों का संग्रह 'गुप्त-निबंधावली' के नाम से छप चुका है।

श्रीयुत महाबीरप्रसाद द्विवेदी

श्रीयुत महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म रायबरेली जिले के दौलतपुर ग्राम में सं. १८२१ ई. में हुआ था और मृत्यु सं. १८८५ में। आपने मातृभाषा हिन्दी के प्रेम के कारण जी. आई. पी. रेलवे की हेड-क्लर्की को त्याग कर सं. १८६० ई. में सरस्वती सम्पादन स्वीकार किया। तब हिन्दी कीं दशा अत्यन्त शोचनीय थी। भाषा का रूप अस्थिर था, व्याकरण के नियमों में खींचातानी थी, विराम चिन्हों का प्रयोग दोषपूर्ण था। आपने उन दोषों को दूर कर भाषा शैली के निर्माण करने का सफल प्रयत्न किया। उन्होंने एक ओर अनेक नये कवियों को खडी बोली में कविता करना सिखाया दूसरी ओर आलो-चना शास्त्र की नींव डाली। इस प्रकार गद्य पद्य दोनों के रूप को संवार सुधार कर, अनेक साहित्यकों का सफल पथ-प्रदर्शन कर आपने साहित्य का नया युग-निर्माण-किया जिसे इतिहासकारों ने 'द्विवेदी युग' की संज्ञा से सुशोभित किया है।

द्विवेदी जी इस बात को मानते थे कि कठिन से कठिन विषय को भी सरलतम रूप में पाठक के सामने प्रस्तुत किया जाना चाहिये। उनके निबन्धों में सरसता, एवं आत्मीयता होती है। वे विषय को बहुत समझा बुझाकर कहते हैं। उनकी सब रचनायें ४० संग्रहों में प्रकाशित हुई हैं। उन्होंने शुद्ध साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त विज्ञान, अर्थ-

शास्त्र, समीक्षा, आदि सभी विषयों पर अपनी लेखिनी चलाई है।आपके ग्रन्थों में शिक्षा, बेकन-विचार, रत्नावली, स्वाधीनता, महाभारत आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। 'नैषध चरित चर्चा' 'कालिदास की निरंकुशता' आदि मे आपने संस्कृत कवियों की अच्छी समालोचनाएँ की हैं।

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान का जन्म सं. १६६१ ई. में हुआ था आपका विवाह हिन्दी सेवी डा. लक्ष्मण सिंह जी के साथ स. १८७६ वि. में हुआ था। आपको कवियत्री अेवं कहानी लेखिका के रूप में हिन्दी साहित्य में यथेष्ट प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त हुआ आपकी कवितायें पहले 'त्रिधारा' नामक संग्रह में श्रीयुत केशव प्रसाद पाठक और श्रीयुत माखनलाल चतुर्वेदी की चुनी हुई कविताओं के साथ प्रकाशित हुई। शेष कविताओं का संग्रह 'मुकुल' है।

आपकी कहानियों के संग्रह 'बिखरे मोती' पर साहित्य सम्मेलन की ओर से सेक्सरिया पुरस्कार दिया गया था। आपकी कहानियाँ दासता की रूढियों व सामाजिक बन्धनों से त्रस्त मानव के हृदय बी प्रति ध्वनियाँ हैं। नारी जीवन पर भी मीवकतापूर्ण कहानियाँ आपनें लिखी हैं। आपकी कहानियों में भी कवि हृदय की झलक रहती है।

आपने देश के स्वतंत्रता में भी सक्रिय सहयोग दिया था। कुछ वर्ष पूर्व मोटर दुर्घटना से आपकी मृत्यु हो गई।

श्रीयुत जय शंकर प्रसाद

श्री जय शंकर प्रसाद का जन्म काशी में सं. १८८६ में हुआ और मृत्यु सं. १८८४ में। घर पर संस्कृत, फारसी, हिन्दी और अंग्रेजी की शिक्षा पाई। बँगला का भी अच्छा अध्ययन किया था। इनकी प्रतिभा सर्वतो मुखी थी साहित्य का कोई भी अंग इन्होंने अधूरा न छोड़ा।

विश्व कवि रवीन्द्र ठाकुर की भाँति नाटक, काव्य, कहानी, उपन्यास सभी क्षेत्रों में सफलता मिली है। काव्य के क्षेत्र में तो यह नवयुग के प्रवर्तक माने जासकते है । इनकी कृतियों में 'आँसू' तथा 'कामायनी' हिन्दी साहित्य के देदीप्यमान नक्षत्र हैं । प्रारम्भिक रचनाएँ कानन कुमुम' 'महाराणा का महत्व' 'करुणालय' और 'प्रेम पथिक' भी सुन्दर हैं । पहले पहल ये ब्रज भाषा में कविताएँ लिखते थे जिनका संग्रह 'चित्राधार' है ।

' नाटक के क्षेत्र में इन्हे अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है । इन के 'स्कन्दगुप्त', 'विक्रमादित्य', 'चन्द्रगुप्त', 'अजात शत्रु', जनमेजय का नागयज्ञ' आदि आधे दर्जन से अधिक नाटक प्राचीन भारतीय संस्कृति और गौरव के उत्कृष्ट चित्र हैं। इनकी अधिकांश कहानियाँ भाव-प्रधान और रोमांटिक है। ऐतिहासिक कहानियों में तत्कालीन वातावरण का सुन्दर चित्रण है। इनके दो उपन्यास 'तितली' तथा 'कंकाल' हैं। 'कंकाल' में समाज के खोखलेपन का मार्मिक चित्रण है ।

'प्रसाद' के सम्पूर्ण साहित्य पर कवि की भावुकना, गम्भीर चिन्तन भारतीय संस्कृति प्रेम, इतिहास एवं बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन का प्रभाव दिखाई पड़ता है। आपकी शैली पर बँगला साहित्य का प्रभाव है। भावपूर्ण काव्यात्मक चित्रप्रधान शैली आपकी विशेषता है। भाषा साधारणतः चलती हुई तथा विशुद्ध है।

श्रीयुत रामचन्द्र शुक्ल

श्रीयुत रामचन्द्र शुक्ल का जन्म बस्ती जिले के अगोनी ग्राम में सं० १८४१ वि. में हुआ था । आपने घर में संस्कृत तथा कालेज में एफ. ए. तक शिक्षा प्राप्त की, पर स्वयं अभ्यास कर अनेक भाषाएँ सीख ली थीं । प्रारम्भ में मिर्जापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक होगये थे । 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों के कारण हिन्दी जगत् इनसे परिचित हुआ। सं. १९६५ वि. में 'हिन्दी शब्द सागर' के सहकारी सम्पादक नियुक्त हुए। लगभग १८ वर्ष तक आपने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन किया। हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में हिन्दी

के अध्यापक हुए तथा बाद में मृत्यु पर्यंत हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे।

शुक्ल जी प्रौढ़ गम्भीर समालोचक, मौलिक निबन्धकार, सुविज्ञ लेखक एवं कवि थे। हिन्दी में वैज्ञानिक समीक्षा का आरम्भ इन्होंने हीं किया। सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी इनकी आलोचना आज भी आदर्शरूप से मान्य है। आपका कीर्तिस्तम्भ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' है। 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक समीक्षात्मक निबन्ध पर 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' ने ५००रु. का पुरस्कार देकर आपको सम्मानित किया था। 'चिन्तामणि' नामक निबन्ध संग्रह पर आपको हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने १२०० रु० का'मंगला प्रसाद पारितोषक'प्रदान किया था। अनूदित ग्रन्थों मे 'बुद्ध-चरित' एवं 'शशांक' (उपन्यास) सुन्दर कृतियाँ हैं। 'हृदय का मधुर भार', 'वसन्त पथिक' आदि कविताओं में प्रकृति वर्णन सुन्दर हैं। आपके मनोवैज्ञानिक निवन्ध जैसे क्रोध, श्रद्धा, करुणा, भक्ति हिन्दी में अद्वितीय हैं।

इनकी भाषा एवं शैली भाव के अनुसार बदल जाती है, भाषापर इनका विलक्षण अधिकार था। साहित्य चिन्ता, आलोचना अथवा मनोवैज्ञानिक लेखों में गम्भीर, तत्सम-प्रधान, वैज्ञानिक विवेचना-शैली का प्रयोग किया है। परन्तु प्रतिपक्षी पर कटाक्ष एवं व्यंग करते समय उर्दू शब्दों से युक्त फड़कती हुई भाषा का प्रयोग किया हैं।

शुक्ल जी भावुक थे। इन्हें प्राचीन संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम था। जीवन के प्रति आपका दृष्टिकोण स्वस्थ एवं सामाजिक था। वे प्रकृति सौंदर्य के उपासक, साहित्य-रसिक तथा विनोदशील थे। हिन्दी साहित्य उनका चिरऋणी है।

श्रीयुत द्विजेन्द्रलाल राय

श्रीयुत द्विजेन्द्रलाल राय का जन्म सन् १८६३ ई. में हुआ और मृत्यु सन् १९१३ ई. में। आप बंगला नाट्य साहित्य में प्रहसन लेकर उतरे। आपका प्रथम प्रहसन था 'कल्कि अवतार' और प्रथम गद्य-रचना 'एक घर में'। इन दोनों रचनाओं में आपने प्राचीन पंथी

हिन्दू समाज पर व्यंग-बाणों की बर्षा की हैं। ब्रह्म समाज और विलायत से लौटे हुए व्यक्ति भी आपकी आलोचना से न बचे। आपकी प्रारम्भिक रचनाओं में हास्य और व्यंग का यथेष्ट समावेश है। आपके 'पाषाणी' और 'सीता' नामक दो पौराणिक नाटक हैं। 'सीता' उनकी श्रेष्ठ नाट्य रचनाओं में गिनी जाती है। आपकी ऐतिहासिक रचनायें, दो नाट्य-काव्य 'ताराबाई' और 'सोहराब रुस्तम' से प्रारम्भ होती हैं। इसके पश्चात् द्विजेन्द्रलाल राय के श्रेष्ठ गद्य ऐतिहासिक नाटकों की शृंखला प्रारम्भ होती है जिनमें 'प्रतापसिंह', 'दुर्गादास', 'नूरजहाँ', 'मेवाड़ पतन' और 'शाहजहाँ' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में देश प्रेम कूट कूट कर भरा है। कौतूहलपूर्ण दृश्यों के प्रस्तुत करने में नाटककार ने इतिहास की रक्षा नहीं की है और चरित्र-चित्रण में भी उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली है। फिर भी उनके नाटक मनोरंजक, अभिनेय और पठनीय हैं अतः बहुत जनप्रिय हुए हैं। कई भाषाओं में आपके नाटकों का अनुवाद हुआ है।

श्रीयुत बालकृष्ण भट्ट

श्रीयुत बालकृष्ण भट्ट का जन्म संवत् १९०१ वि. में, प्रयाग मे हुआ था। घर पर संस्कृत की शिक्षा प्राप्त कर मिशन स्कूल में अंग्रेजी पढ़ना आरम्भ किया। पादरी हेडमास्टर से वादविवाद हो जाने पर स्कूल छोड़ दिया और फिर संस्कृत पढ़ने लगे। इसी बीच मे ये यमुना मिशन स्कूल में अध्यापक हो गये पर वहाँ भी अपनी धर्म-निष्ठा के कारण न निभी। नौकरी छोड़ व्यापार किया पर वह भी इनकी प्रकृति के अनुकूल न पड़ा। फिर साहित्य सेवा की ओर ध्यान दिया और शीघ्र ही प्रसिद्ध लेखक हो गये। आप 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक बनाये गए पर 'प्रेस एक्ट' के कारण 'प्रदीप' अधिक दिन न चल सका। पीछे भट्ट जी कायस्थ पाठशाला में संस्कृत के अध्यापक हो गये। सं. १९७१ वि. में देहावसान हुआ।

भट्ट जी का हिन्दी-गद्य-निर्माताओं में अत्यन्त उच्च स्थान है। आपने जीवन पर्यन्त हिन्दी की सेवा की। आपके लेखों का संग्रह 'साहित्य सुमन' के नाम से प्रकाशित हुआ है। आपने 'रेल का विकट खेल', 'बाल विवाह नाटक', 'सौ अजान एक सुजान', 'नूतन ब्रह्मचारी', आदि अनेक सुन्दर ग्रन्थों की रचना की है। 'हिन्दी प्रदीप' में भट्ट जी के लिखे हुए अनेक कवियों एवं लेखकों के जीवन चरित्र, ग्रन्थों की आलोचनाएँ, कई ग्रन्थों के भावानुवाद तथा छोटे विषयों 'नाक' 'कान' 'आँसू' आदि पर मनोरंजक लेख निकलते थे। उनके भावात्मक लेख यथा 'कल्पना' 'आत्मनिर्भरता' आदि सराहनीय हैं।

भट्ट जी की भाषा सरल, जन-प्रचलित साधारण बोल चाल की होती थी। उर्दू अंग्रेजी के प्रचलित शब्द, मुहावरे एवं कहावतें तथा कहीं कहीं पूर्वी प्रयोग इनके लेखों में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। व्यंग और वक्रता इनके लेखों में भरी रहती थी।

श्रीयुत अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

श्रीयुत अयोध्या सिंह उपाध्याय का जन्म सं. १९२२ वि. में आजमगढ़ में हुआ। आपने हिन्दी साहित्य के गद्य और पद्य दोनो ही अंगों को सजाया है। खडी बोली के प्रथम मौलिक महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' की रचनाकर आपने खडी बोली का सिक्का काव्य क्षेत्र में भी बैठा दिया। इसके अतिरिक्त 'वैदेही बनवास', 'चोखे चौपदे', 'रस कलस' भी सुन्दर रचनायें हैं। 'प्रिय प्रवास' पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से 'मंगला प्रसाद पारि तोषिक' दिया गया।

आपके गद्य-ग्रन्थों में 'वेनिस का बाँका', 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', 'अधखिला फूल' बहुत प्रसिद्ध हैं। आपने गद्य की भाषा के कई नमूने अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किये है। 'वेनिस का बाँका' में शुद्ध एवं क्लिष्ट संस्कृत शब्दावली का प्रयोग है। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ, और 'अधखिला फूल' में भाषा प्रवाहपूर्ण है पर शब्दावली सरल है। 'ठेठ

हिन्दी का ठाठ में 'ठेठ पन' की हद है। इस प्रकार उन्होंने भाषा का जो रूप चाहा उसे सफलता पूर्वक प्रस्तुत किया है।

आपकी शैली मधुर एवं काव्यपूर्ण है पर कहीं कहीं गठन सुन्दर नहीं बन सका है। शैली में कहीं कहीं पण्डिताऊपन भी आगया है।

महात्मा गाँधी

विश्वविभूति, प्रातःस्मरणीय राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी को कौन नहीं जानता। भारत ही नहीं सम्पूर्ण विश्व उनकी वन्दना कर रहा है। पूज्य बापू ने संसार को सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ाया है। इनका जन्म पोरबन्दर में २ अक्तूबर सन् १८६९ ई. में हुआ था। आप बैरिस्टरी की शिक्षा प्राप्त करने इंग्लैण्ड गये वहीं से जीवन में आमूल परिवर्तन आरम्भ हुआ। उसके बाद का सारा जीवन त्याग, तपस्या, संघर्ष, सत्य और अहिंसा से ओतप्रोत है। संसार की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध अहिंसा की लड़ाई लड़कर आपने भारत को स्वतन्त्रता दिलाई। आपका जीवन-दर्शन 'गाँधीवाद' के नाम से सर्वत्र श्रद्धा और सम्मान प्राप्त कर चुका है। विश्वबन्धुत्व और विश्व शान्ति का एक मात्र उपाय गाँधीवाद है। आपने भारतीय संस्कृति को पुनः एक नये रूप में जीवित कर दिया है।

आपकी शैली आपके समान ही सीधी और सरल है। छोटे छोटे वाक्यों में सीधे सरल शब्दों में बिना किसी अलंकार व सज्जा के गाँधीजी गम्भीर महत्वपूर्ण विषय खोलकर हमारे सम्मुख रख देते हैं। आपने जीवन के लगभग सभी पक्षों पर अपनी लेखिनी उठाई है। सर्वत्र आपके त्यागमय सबल व्यक्तित्व और निर्मल-हृदयता की छाप मिलती है।

श्रीयुत पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

श्रीयुत पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' चुनार (मिर्जापुर) के निवासी हैं। आपने कहानी, उपन्यास, नाटक और निबन्ध लिखे हैं। आरम्भ में आप का सम्बन्ध हास्य पत्र 'मतवाला' से था। आपने अपनी कहानियों और उपन्यासों द्वारा समाज का नग्न चित्रण कर समाज की रूढ़िवादिता

और नैतिक भावना को ललकारा है। इनकी रचनाएँ यद्यपि लोकप्रिय हुईं पर उनकी कटु आलोचना भी कम न की गई। आपकी भाषाशैली कलात्मक एवं नाटकीय तथा भावाभिव्यंजना अनूठी होती है। लेखन शैली ओजपूर्ण एवं मनोरंजक होती है।

'चन्द हसीनों के खतूत' 'चिनगारियाँ,' 'बुधुआ की बेटी,' 'शराबी' 'घण्टा' 'आवारा' आदि आप की महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

श्रीयुत वंशीधर विद्यालंकार

श्रीयुत वंशीधर विद्यालंकारका जन्म सम्वत् १९५७ में क्वेटा(बलोचिस्तान) में हुआ। आपने गुरुकुल कांगडी हरिद्वार में शिक्षा पाई। आप कुछ वर्ष औरंगाबाद कालेज में प्राध्यापक रहे। अभी कुछ ही समय पूर्व आपने हिन्दी विभाग उस्मानिया विश्वविद्यालय के अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण किया है। आजकल आप नानकराम भगवानदास विज्ञान महाविद्यालय के प्रिन्सिपल हैं। इधर कई वर्षों से आप 'अजन्ता' मासिक पत्रिका का सफल सम्पादन कर रहे हैं।

पण्डित जी हिन्दी और संस्कृत के उद्भट विद्वान्, प्रौढ़ एवं चिन्तनशील आलोचक तथा भावुक कवि हैं। मौलिकता आपकी रचनाओं की प्रधान विशेषता है। आपकी कवितायें सरल, सरस और मर्मस्पर्शी होती हैं। आपकी आलोचनायें विद्वत्तापूर्ण गम्भीर एवं निष्पक्ष होती हैं। आपने बडे ही मनोरंजक संस्मरण लिखे हैं। सम्पादक के रूप में आपको बहुत प्रतिष्ठा मिली है।

आपकी भाषा भाव की अनुगामिनी तथा शैली प्रभावपूर्ण होती हैं। आपका एक काव्य संग्रह 'मेरे फूल' तथा अंग्रेजी में 'शकुन्तला'- 'ए ट्रेजेडी एण्ड अदर एसेज' नामक निबन्ध संग्रह प्रकाश में आचुके हैं।

श्रीयुत श्याम सुन्दर दास

श्रीयुत श्याम सुन्दर दास का जन्म सम्वत् १९३२ वि० में बनारस में हुआ। बी. ए. पास करने के बाद सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में अंग्रेजी के अध्यापक हुए। कुछ वर्ष शिमला, काश्मीर, तथा लखनऊ में रहकर

अन्त में काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हो गए। कुछ वर्ष कानपुर में अवकाश का जीवन बिता सम्वत् २००२ वि० में परलोकवासी हुए।

हिन्दी सेवकों मे आपका स्थान बहुत ऊँचा है। जीवन भर आप अनेक प्रकार से हिन्दी की सेवा करते रहे। आप काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रमुख संस्थापक हैं। सभा द्वारा साहित्यिक खोज, ग्रन्थ सम्पादन एवं प्रकाशन का जो कुछ कार्य हुआ उसमे किसी न किसी रूप मे श्रीयुत श्यामसुन्दर दास सम्बन्धित रहे। 'हिन्दी-शब्द-संग्रह' और 'हिन्दी-वैज्ञानिक-कोष' का सभाद्वारा प्रकाशन आप ही के तत्वावधान में हुआ। आपके प्रमुख ग्रन्थ हैं 'साहित्यालोचन', 'हिन्दी भाषा और साहित्य', 'भाषा-विज्ञान', 'भाषारहस्य', 'गोस्वामी तुलसी-दास' आदि। आपकी इन सेवाओं के उपलक्ष मे, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय ने 'डी. लिट्.,' भारत सरकार ने 'राय बहादुर' तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधियां देकर आपको सम्मानित किया।

आप शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। अतः आपकी रचनाओं में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य तथा उर्दू, फारसी के शब्दों का वहि-ष्कार मिलता है। आपकी शैली गम्भीर और संयत है पर कहीं कहीं दुरूह हो जाती है।

श्रीमती महादेवी वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म सम्वत् १९६४ वि० में फरुखाबाद में हुआ। प्रयाग विश्वविद्यालय से एम्. ए. (संस्कृत) की परीक्षा उत्तीर्ण कर प्रयाग-महिला-विद्यापीठ महाविद्यालय की आचार्या हो गईं। अभी भी आप उस पद को सुशोभित कर रही हैं। आप उत्तर-प्रदेश राज्य-सभा की मनोनीत सदस्या हैं।

छायावादी और रहस्यवादी कवियों में महादेवी जी का ऊँचा स्थान है। आपका काव्य वेदना और पीड़ा से ओत-प्रोत है। आपके

काव्य संग्रह 'नीहार' 'रश्मि' 'नीरजा' 'सान्ध्यगीत' 'यामा, तथा 'दीपशिखा' बहुत लोकप्रिय हुए हैं। आप 'आधुनिक मीरा' कहलाती हैं।

आपने कई वर्षों तक 'चाँद' का सम्पादन भी किया है। अपनी रचना 'शृङ्खला की कड़ियाँ' में भारतीय नारी की विषम समस्याओं का सुन्दर मार्मिक और यथार्थ चित्रण किया है। 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' नामक रचनाओं में भावुकता भरे संस्मरण हैं। अपने 'विवेचनात्मक गद्य' में आपने साहित्यिक विषयों पर गम्भीर चिन्तनशील लेख लिखे हैं।

आपका भाषा पर विलक्षण अधिकार है। भाव और विषय के अनुकूल भाषा के प्रयोग की कला में आप सिद्धहस्त हैं। आपकी भाषा शुद्ध, चित्रात्मक एवं संयत होती है पर कहीं दुरूहता आजाती है।

श्रीयुत रघुवीर सिंह

महाराज कुमार डॉ. रघुवीर सिंह जी सीतामाऊ (मालवा) रियासत के महाराज के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आप अध्ययनशील, भावुक, तथा उच्च विचारों के व्यक्ति हैं। भारत के स्वतन्त्र होने पर आपने सर्व प्रथम अपनी रियासत को भारत संघमें सम्मिलित किया। आपको ऐतिहासिक विषयों से बड़ा प्रेम है। आपने ऐतिहासिक विषयों पर कई ग्रन्थ लिखे हैं। आपकी रचना 'शेष स्मृतियाँ' भावात्मक शैली में लिखी एक उत्कृष्ट रचना है। इस कृति में उन्होंने मुग़ल साम्राटों के कुछ अवशिष्ट चिन्हों पर बडे सुन्दर मार्मिक भावात्मक प्रबंध लिखे हैं। कभी उन्होंने उनके मधुर, भव्य, और जगमगाते दृश्यों के चित्र उपस्थित किये हैं और कहीं पतन-काल के विषाद, नैराश्य और बेबसी की परिस्थितियों के। आपकी भाषा शुद्ध, प्रांजल एवं प्रवाह पूर्ण है।

श्रीयुत पद्मसिंह शर्मा

श्री पद्मसिंह शर्मा का जन्म सन्. १८७६ ई. में हुआ तथा मृत्यु सन् १९३२ ई. में। आप संस्कृत, फारसी, उर्दू और हिन्दी के उद्भट विद्वान्

थे। आपने पहले बिहारी-सतसई का "संजीवन भाष्य" लिखा। इससे इन को हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। हिंदी में तुलनात्मक समालोचना का श्रेय आपको है।

आपकी भाषा संस्कृत गर्भित भी होती है और दूसरी ओर आप उर्दू के पर्याप्त शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। आपकी शैली भावुकतापूर्ण, मनोरंजक तथा प्रवाह-पूर्ण होती है। आपकी भावाभिव्यंजना विशेष प्रभाव पूर्ण होती है। उर्दू की भी हास्य-व्यंजना भी बहुधा पाई जाती है जिससे रोचकता आजाती है।

श्रीयुत पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

श्री बख्शी जी हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्यकार हैं। आप श्रीयुत महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद ७ वर्ष तक 'सरस्वती, के सम्पादक रह चुके हैं। आप हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध कहानी लेखक, निबंधकार और आलोचक हैं। आपकी प्रारम्भिक रचनायें 'हिन्दी साहित्य विमर्श' और 'विश्व साहित्य' है। हिन्दी पाठकों को विदेशी साहित्य का परिचय सर्व प्रथम आपने दिया। आपके 'तीर्थ रेणु' 'मकरन्द बिन्दु' 'प्रबध पारिजात' 'कुछ और' आदि ग्रन्थ प्रकाश में आचुके हैं। आपके निबन्ध गम्भीर, चिन्तनशील और प्रभावशाली होते है।

आपकी शैली सरस, संयत और विद्वत्ता पूर्ण है। आपकी भाषा, ओजपूर्ण, सजीव शुद्ध एवं प्रभाव पूर्ण है।

डॉ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

डॉ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म सन्. १९०७ ई. में हुआ। पहले आप शान्ति निकेतन में अध्यापक थे परन्तु आजकल हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष है। द्विवेदी जी एक आलोचक के रूप में हिन्दी साहित्य में यथेष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके है। आपके विवेचनात्मक तथा व्याख्यात्मक निबन्ध भी उच्चकोटि के होते हैं। आपकी भाषा शुद्ध, सुसंयत, परिमार्जित तथा प्रभाव पूर्ण होती है। कहीं कहीं आपकी भाषा में दुरूहता भी आ जाती है। आपकी शैली

भावुक, सरल तथा भावव्यंजना सुन्दर प्रभावशाली एवं मार्मिक होती है।

आपके अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थों से हिन्दी साहित्य को सजाया है। आपकी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' 'कबीर' सूर साहित्य' 'अशोक के फूल' तथा 'बाणभट्ट की आत्मकथा' विशेष उल्लेखनीय है। लखनऊ विश्वविद्यालय ने आपकी साहित्य सेवाओं से प्रभावित हो डी. लिट् की उपाधि से आपको सम्मानित किया है।

श्री शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

श्री शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय का जन्म सन् १८७६ ई. में बंगाल के देवानन्दपुर नामक ग्राम में हुआ था। ६२ वर्ष की आयु में सन् १९३८ ई. में उनका देहान्त हुआ। आपकी प्रथम कहानी 'मन्दिर' कुन्तलीन पुरस्कार प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ मानी गई थी। इसके ५ वर्ष बाद अनेक पत्रों में आपकी कहानियाँ प्रकाशित होने लगीं। इसके पश्चात् आपके सामाजिक उपन्यासों का प्रकाशन धारावाहिक रूप से होने लगा। शरत बाबू अपने उपन्यासों के लिये अधिक प्रसिद्ध हुए यद्यपि अपेक्षाकृत आपने कहानियाँ हीअधिक लिखी हैं। आपकी कहानियाँ उत्कृष्ट कोटि की हैं।'पथ निर्देश','बिन्दो का लल्ला', 'बडी दीदी', 'परिणीता', 'एकादशी', 'वैरागी', 'महेश' आदि आपकी श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। आपके उपन्यासों में 'देवदास', 'श्रीकान्त', 'पथ के दावेदार', 'शेष प्रश्न' 'चरित्र हीन', 'विप्रदास' आदि अधिक उल्लेखनीय हैं। शरत बाबू की रचनायें अत्यन्त सरल, मधुर एवं मनोरंजक होती हैं। आपने यथेष्ट भ्रमण किया था और बर्मा में भी दीर्घकाल तथा निवास किया था। अतएव कथानकों एवं पात्रों में यथेष्ट विविधता है।

श्रीयुत बनारसीदास चतुर्वेदी

हिन्दी के सुयोग्य पत्रकार और लेखक हैं। आपके संस्मरण और रेखा-चित्र हिन्दी सहित्य में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। आपने'विशाल भारत' और 'मधुकर' पत्र का अनेक वर्षों तक योग्यतापूर्वक सम्पादन

हैदराबाद में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। आपने, दक्षिण में हिन्दी का जो विशेष रूप दक्खिनी के नाम से विकसित हुआ उसका विशेष अध्ययन किया है। इधर आपने बहुत सी पत्र पत्रिकाओं में दक्खिनी साहित्य के सम्बन्ध में अनुसन्धानात्मक लेख प्रकाशित किए हैं। आपने 'दक्खिनी गद्य के विकास पर' एक प्रबन्ध पी. एच्. डी. की उपाधि के लिये प्रस्तुत किया है। दक्खिनी के कई ग्रन्थों का सम्पादन किया है जिनमें गवासी की 'सैफुल मुल्क व बदी उल् जमाल' और मुकीमी की 'चन्दरबदन व महायार' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त आपकी कुछ अन्य पुस्तकें 'रचना और निबन्ध', 'विभूतियाँ' और 'दक्षिण के महापुरुष' के नाम से प्रकाशित हुई हैं।

श्री पाण्डेय जी की भाषा व शैली सरल, रोचक तथा सुरुचिपूर्ण है। आप संस्कृत व उर्दू आदि के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं।